

ISSN 0972-1002

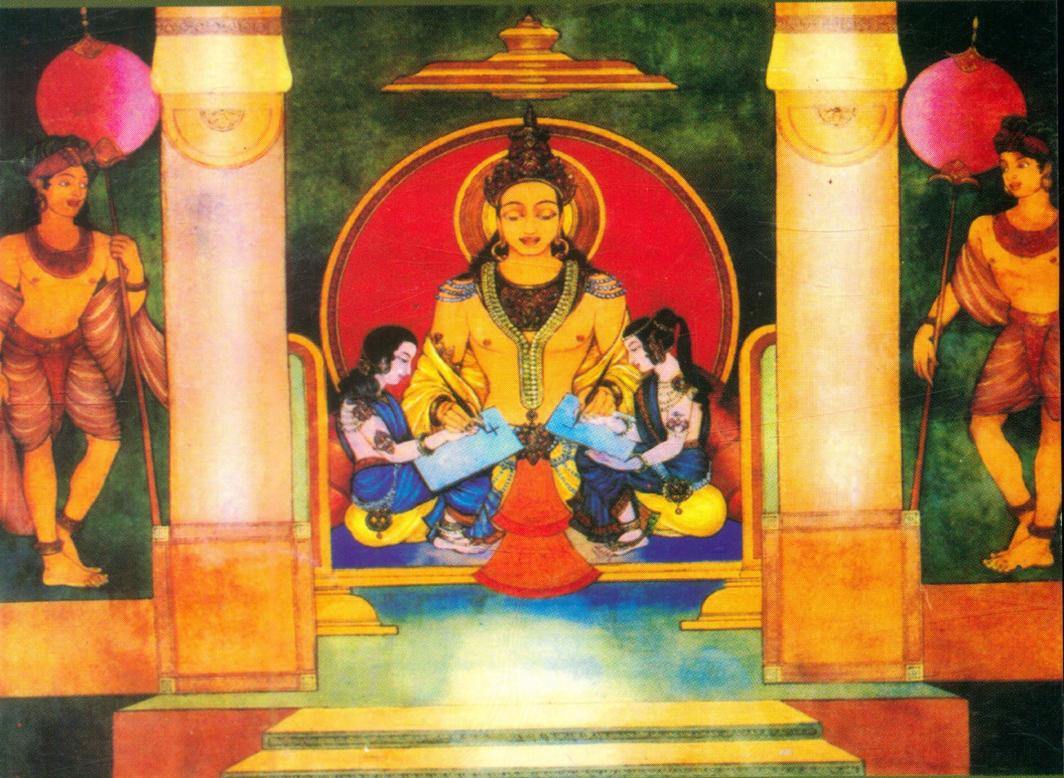
# श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXII

No.IV

Oct.-Dec. 2011



*Tirthankara R̥sabhadēva teaching his daughters Br̥hmī and Sundarī*



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

**पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी**

Established : 1937

# श्रमण

## ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXII

No. IV

October- December 2011

*Editor*

**Prof. Sudarshan Lal Jain**

*Joint Editor*

**Dr. Ashok Kumar Singb.**



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

**(Established: 1937)**

*(Recognized by Banaras Hindu University  
as an External Research Centre)*

## **ADVISORY BOARD**

**Dr. Shugan C. Jain**

Chairman, New Delhi

**Prof. Cromwell Crawford**

Univ. of Hawaii

**Prof. Anne Vallely**

Univ. of Ottawa, Canada

**Prof. Peter Flugel**

SOAS, London

**Prof. Christopher Key Chapple**

Univ. of Loyola, USA

**Prof. Ramjee Singh**

Bheekampur, Bhagalpur

**Prof. Sagarmal Jain**

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

**Prof. K.C. Sogani**

Chittaranjan Marg, Jaipur

**Prof. D.N. Bhargava**

Bani Park, Jaipur

**Prof. Prakash C. Jain**

JNU, Delhi

## **EDITORIAL BOARD**

**Prof. M.N.P. Tiwari**

B.H.U., Varanasi

**Prof. K. K. Jain**

B.H.U., Varanasi

**Dr. A.P. Singh, Ballia**

**Prof. Gary L. Francione**

New York, USA

**Prof. Viney Jain,**

Gurgaon

**Dr. S.P. Pandey, PV, Varanasi**

**ISSN: 0972-1002**

## **SUBSCRIPTION**

### **Annual Membership**

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

### **Life Membership**

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

**Membership fee & articles can be sent in favour of Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5**

## **PUBLISHED BY**

**Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth**

I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 0542-2575890

### **Email:**

pvpvaranasi@gmail.com, sudarshan.pvvaranasi.jain@gmail.com

**NOTE:** The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित विचार और तथ्य लेखक के अपने हैं।)

**Theme of the Cover :** Tirthankara R̥ṣabhadeva teaching his daughters Brāhmī and Sundarī.

**Type Setting-** Raj Graphics, Lanka, Varanasi

**Printed by-** Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

## Contents

### Our Contributors

iv

सम्पादकीय

v-vi

(कालचक्र और ऋषभदेव)

1. भारतीय चिन्तन में मोक्ष तत्त्व : एक समीक्षा १-८  
प्रो० सुदर्शन लाल जैन
2. जैन दर्शन में काल का स्वरूप ९-२८  
प्रो० धर्मचन्द्र जैन
3. वैदिक एवं जैन परम्परा में द्रौपदी कथानक :  
उद्भव एवं विकास २९-३६  
डॉ० शीला सिंह
4. जैन दर्शन में प्रमेय का स्वरूप एवं उसकी सिद्धि ३७-४९  
डॉ० राहुल कुमार सिंह
5. परीक्षामुख में प्रमाण-लक्षण निरूपण :  
एक अध्ययन ५०-५८  
डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव
6. कहकोसु (कथाकोश) में वर्णित राजनैतिक चिन्तन ५९-७१  
डॉ. (श्रीमती) दर्शना जैन
7. जैनागमों में स्वप्न-विज्ञान ७२-७८  
कु० मञ्जू जैन
8. *Aparigraha as Reflected in Jaina Art* ७९-८८  
*Prof. Maruti Nandan Prasad Tiwari*
9. *Tolerance in Jaina Religion:*  
*Through the Ages* ८९-१०९  
*Dr. Ashok Kumar Singh*

स्थायी स्तम्भ

जिज्ञासा और समाधान

११०-११२

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

११३-११७

जैन जगत्

११८-१२०

साभार प्राप्ति

१२१

Advertisement

१२२

## **Our Contributors**

### **Prof. Sudarshan Lal Jain**

Director (Research), Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

### **Prof. Dharma Chanda Jain**

Professor & Head, Department of Sanskrit, Jay Narayan Vyas University, Jodhpur (Raj.)

### **Dr. Sheela Singh**

Research-Lecturer, State Institute of Hindi, Orderly Bazar, Varanasi-221002

### **Dr. Rahul Kumar Singh**

Research Associate, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

### **Dr. Navin Kumar Srivastav**

Research Associate, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

### **Dr. (Smt.) Darshana Jain**

C/O Shri Om Prakash Jain, Street of Laxminath Mandir, Kekari, District. Ajmer (Raj.)

### **Km. Manju Jain**

C/O Dr. Udai Chand Jain, 361, Arvind Nagar, Udaipur (Raj.)

### **Prof. Maruti Nandan Prasad Tiwari**

Professor, Department of History of Art, B.H.U., Varanasi-221005

### **Dr. Ashok Kumar Singh**

Associate Professor, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-221005

## सम्पादकीय (कालचक्र और ऋषभदेव)

### कालचक्र

जैनागम के अनुसार दृश्यमान जगत (केवल भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के आर्य खण्ड) में काल-चक्र सदा घूमता रहता है। यह दो भागों में विभक्त है—

### १. अवसर्पिणी काल

इस काल में जीवों की आयु, बल, सुख-सम्पदा आदि घटती जाती है। इसकी अवधि १० कोड़ा-कोड़ी सागर मानी जाती है। इस काल के छः उप-विभाग होते हैं— सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा। इनकी-समय सीमा क्रमशः इस प्रकार है— चार कोड़ा-कोड़ी सागर, तीन कोड़ा-कोड़ी सागर, दो कोड़ा-कोड़ी सागर, ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर, २१ हजार वर्ष और २१ हजार वर्ष। छठवें काल के अन्तिम ४९ दिनों की अवधि प्रलय की स्थिति है और श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है।

चतुर्थ काल (दुषमा-सुषमा) में ६३ शलाकापुरुष (२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव या बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण) जन्म लेते हैं। इसके तृतीय काल (दुषमा-सुषमा) में १४ कुलकर होते हैं।

### २. उत्सर्पिणी काल

इसमें जीवों की आयु, सुख-सम्पदा आदि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसकी अवधि भी १० कोड़ा-कोड़ी सागर है एवं इसके भी छः उपविभाग (आरे) हैं— दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा। यह अवसर्पिणी काल से उलटा चलता है अर्थात् दुःख से सुख की ओर जबकि अवसर्पिणी काल सुख से दुःख की ओर बढ़ता है। इस उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ में ४९ दिनों तक सुवृष्टि होती है। इसके द्वितीय काल (दुषमा) में २० हजार वर्ष बीत जाने पर कुलकरों (१४ मनु) की उत्पत्ति होती है जो मनुष्यों को खेती करना, खाना पकाने आदि की शिक्षा देते हैं। तीसरे काल में ६३ शलाकापुरुष उत्पन्न होते हैं।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों कालों का संयुक्त नाम है— 'कल्पकाल'। दोनों कालों का चक्र एक जैसा है। अवसर्पिणी के कालों को क्रमशः उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि, जघन्य भोगभूमि, उत्तम कर्मभूमि, मध्यम कर्मभूमि और अधम कर्मभूमि काल कह सकते हैं। इसी तरह विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी काल को जानना।

vi : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

**वर्तमान हुण्डावसर्पिणी काल :** असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालों के व्यतीत हो जाने पर हुण्डावसर्पिणी काल आता है। आजकल अवसर्पिणी के पञ्चम काल का हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है। इस हुण्डावसर्पिणी काल में अपवादस्वरूप कुछ असाधारण बातें होती हैं। जैसे- सभी तीर्थङ्करों का जन्म अयोध्या में होना चाहिए था परन्तु इस काल-दोष के कारण ५ तीर्थङ्करों (ऋषभनाथ, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ और अनन्तनाथ) का ही जन्म अयोध्या में हुआ है। इसी प्रकार सभी तीर्थङ्करों का मोक्ष सम्प्रेद शिखर से होना चाहिए था परन्तु ४ तीर्थङ्करों (आदिनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर) का मोक्ष अन्य स्थानों से हुआ है। तीर्थङ्करों पर उपसर्ग नहीं होना चाहिए परन्तु इस काल में ३ तीर्थङ्करों सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर पर उपसर्ग हुए। चतुर्थ काल में ही २४ तीर्थङ्कर होते हैं परन्तु इस काल में प्रथम तीर्थङ्कर तीसरे काल में उत्पन्न होकर उसी काल में मोक्ष को प्राप्त हो गये। तीर्थङ्करों को पुत्री उत्पन्न नहीं होती परन्तु काल-दोष के कारण प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की दो पुत्रियाँ (ब्राह्मी और सुन्दरी) हुईं।

**मुखपृष्ठ चित्र-परिचय :** इस अङ्क के मुख पृष्ठ पर तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा अपनी दोनों पुत्रियों को शिक्षा देते हुए दिखाया गया है। ब्राह्मी को लिपि विद्या (अ, आ, आदि वर्ण ज्ञान) तथा सुन्दरी को अङ्क विद्या (१, २, ३ आदि)। भरत, बाहुबली आदि १०१ पुत्रों को भी उन्होंने विभिन्न विद्याओं में निपुण किया था। जब ऋषभदेव का जन्म हुआ था तब भोगभूमि का अन्तिम समय था और कर्मभूमि का प्रारम्भ। भोगभूमि काल में लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों (इच्छित फल प्रदान करने वाले १० प्रकार के वृक्ष) से कर लेते थे, उन्हें श्रम नहीं करना पड़ता था। जब वे कल्पवृक्ष नहीं रहे तो लोगों को आजीविका चलाने हेतु ऋषभदेव ने छः प्रकार की शिक्षा दी- १. असि (शस्त्र विद्या), २. मसि (लेखन कार्य), ३. कृषि (खेती), ४. वाणिज्य (व्यापार), ५. शिल्प (दस्तकारी) और ६. विद्या (गायन, वाद्य, चित्रकारी आदि)। इस तरह ऋषभदेव ने लोगों को आजीविका के साधन बतलाये तथा उनके कार्यों के आधार पर समाज को तीन भागों में विभक्त किया- १. क्षत्रिय, २. वैश्य और ३. शूद्र। आगे चलकर उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके समाज को चार भागों में विभक्त किया। यह सम्पूर्ण विभाजन लोगों के कार्यों के आधार पर था, न कि जाति के आधार पर।

प्रो० सुदर्शन लाल जैन

## भारतीय चिन्तन में मोक्ष तत्त्व : एक समीक्षा

प्रो० सुदर्शन लाल जैन

शुद्ध आत्म-स्वरूपोपलब्धि ही मोक्ष है। इसमें सभी दर्शन एक मत हैं। मोक्ष में ज्ञान, सुख, इन्द्रियाँ, शरीर, निवास-स्थान आदि की क्या स्थिति होती है? क्या बौद्धों की तरह निर्वाण सम्भव है? मोक्ष कैसे प्राप्त किया जा सकता है? क्या उन्हें ईश्वर कहा जा सकता है? क्या कोई अनादि मुक्त भी है? आदि प्रश्नों का समाधान इस आलेख में किया गया है।

— सम्पादक

सभी भारतीय दर्शनों का चरम लक्ष्य है 'मोक्ष' जिसका अर्थ है 'संसार-बन्धन से मुक्ति' अथवा अपने निज शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति। अतः जिस दर्शन में आत्मा का जैसा स्वरूप बतलाया गया है वहाँ उस आत्म-स्वरूप को प्राप्त होना मोक्ष है। जैसे विजातीय तत्त्वों से अशुद्ध सोने को हम अग्नि में तपाकर उसके विजातीय तत्त्वों को हटाकर शुद्ध करते हैं वैसे ही विजातीय कर्म अथवा अज्ञान के आवरण से जो आत्मा मलीमस हो रहा है उसे संयम, समाधि अथवा तपरूप अग्नि में तपाने पर उसका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है।

### मोक्षमार्ग (श्रेयोमार्ग)

कठोपनिषद् में आया है कि संसारी प्राणी दो प्रकार के मार्गों में से किसी एक मार्ग पर चलता है, वे दो मार्ग हैं<sup>१</sup>— प्रेयोमार्ग (संसारमार्ग) और श्रेयोमार्ग (मुक्तिमार्ग)। प्रेयोमार्ग का वरण करने वाला प्राणी आपाततः रमणीय विषयभोगों में प्रवृत्त होकर संसार में भटकता रहता है। अधिकतर प्राणी अज्ञानवश इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति का मूल कारण है— राग और द्वेष। इन्द्रियों को सुख देने वाले पदार्थों से राग (प्रेम, लगाव, भोगेच्छा आदि, 'सुखानुशायी रागः') तथा इन्द्रियों को दुःख देने वाले पदार्थों से द्वेष (घृणा, हेयदृष्टि, क्रोध आदि, 'दुःखानुशायी द्वेषः') करना ही प्रेयोमार्ग है। इन रागी-द्वेषी प्रवृत्तियों का प्रभाव हमारे चित्त और इन्द्रियों पर इतना अधिक पड़ता है कि वह अवश होकर श्रेयोमार्ग (परम कल्याणकारी मार्ग, धर्ममार्ग) की उपेक्षा कर देता है। श्रेयोमार्ग का अवलम्बन करने वाला प्राणी विषयभोगोन्मुखी प्रवृत्ति को रोककर अन्तर्मुखी (आत्मोन्मुखी) होकर चित्त-शुद्धि को करता है।<sup>२</sup> हमारे सांसारिक जीवन के ऊपर अज्ञान, राग, द्वेष आदि का तमोपल

२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

इतना गाढ़ा है कि उसे दूर करने के लिए निरन्तर सद्वृष्टि, सद्-ज्ञानाभ्यास तथा सदाचरण की नितान्त आवश्यकता है। इन्द्रिय-संयम, आत्मध्यान, यम-नियम, समाधि, समता, तप आदि के द्वारा इसी बात को कहा गया है। अतः जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को सम्मिलित रूप से मोक्षमार्ग (श्रेयोमार्ग) बतलाया गया है।<sup>३</sup> बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधनों को एतदर्थ आवश्यक बतलाया गया है।<sup>४</sup> वेदान्त, सांख्य, योग और न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी प्रकारान्तर (नाम-भेद) से यही बात कही गई है।<sup>५</sup> गीता का भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही नामान्तर से कहता है। इतना विशेष है कि जैनदर्शन में इन तीनों को पृथक्-पृथक् मुक्ति का मार्ग न मानकर तीनों की सम्मिलित अनिवार्यता मानी है।<sup>६</sup> जहाँ इन्हें पृथक्-पृथक् मुक्ति का मार्ग बतलाया है वहाँ उसके महत्त्व को प्रदर्शित करना है परन्तु पूर्णता हेतु अन्य दो साधन भी अनिवार्य हैं क्योंकि सद्वृष्टि और सद्-ज्ञान के बिना कर्मयोग (सम्यक्चारित्र) का फल नहीं है, सदाचार और सद्-ज्ञान के बिना भक्तिमार्ग (सम्यग्दर्शन) सम्भव नहीं है तथा सद्-वृष्टि और सदाचार के बिना ज्ञानमार्ग (सम्यग्ज्ञान) भी फलदायी नहीं है।

### मुक्तावस्था

‘मोक्ष’ या ‘मुक्ति’ शब्द का सीधा अर्थ है— कर्मबन्धन-जन्य परतन्त्रता को हटाकर स्वतन्त्र हो जाना। जैन दर्शन में इसे सिद्ध अवस्था भी कहा गया है। सिद्ध का अर्थ है ‘शुद्धता की प्राप्ति’। जैनदर्शन की मान्यता है कि कर्मबन्ध के रागादि कारणों का उच्छेद होने पर मोक्ष होता है।<sup>७</sup> जो आत्मा अनादिकाल से कलुषताओं से घिरा हुआ था वह मुक्त होने पर निर्मल, चैतन्यमय तथा ज्ञानमय हो जाता है। आत्मा की कर्मनिमित्तक वैभाविकी शक्ति के कारण जो संसारावस्था में विभावरूप (मिथ्यादर्शन, अज्ञान तथा असदाचाररूप) परिणमन हो रहा था, मुक्तावस्था में वह विभाव-परिणमन (राग-द्वेषादि रूप निमित्त के हट जाने पर) शुद्ध स्वाभाविक परिणमन (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) में बदल जाता है। अर्थात् मोक्षावस्था में आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थित हो जाता है।<sup>८</sup> इसीलिए उसे ‘आत्म-वसति’ कहा है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर आत्मा अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य इन चार गुणों) को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था-प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होता है। आत्मा को व्यापक न मानने से उसके निवास स्थान को भी माना गया है। ‘तीर्थङ्कर’ होकर मुक्त होना एक विशेष अवस्था है परन्तु बाद में कोई भेद नहीं रहता है।

जैनदर्शन में माना गया है कि पहले सभी जीव कर्मबन्धनयुक्त (संसारी) थे। बाद में ध्यान-साधना द्वारा मुक्त हुए हैं। इन्हीं की वे पूजा करते हैं और इन्हें ही ईश्वर मानते हैं परन्तु जगत्कर्ता आदि नहीं। चूँकि जैनदर्शन में आत्मा को शरीर-परिमाण कहा है। अतः संसारावस्था में कर्मजन्य छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है वह तद्रूप परिणत हो जाता है क्योंकि उसमें दीपक के प्रकाश की तरह संकोच-विकास शक्ति है। मुक्त होने पर कर्मबन्धन न होने से कोई शरीर नहीं रहता है। अव्यवहित पूर्वभव का शरीर-परिमाण (कुछ न्यून) बना रहता है क्योंकि उसमें संकोच विकास के कारण-कर्मों का अभाव रहता है। अतः मुक्तावस्था में आत्मा न तो संकुचित होकर अणुरूप होता है और न व्यापक। आत्मा में स्वाभाविक रूप से एरण्डबीज, अग्निशिखा आदि की तरह ऊर्ध्वगमन स्वभाव माना जाता है जिससे वह शरीर-त्याग के उपरान्त ऊपर लोकान्त तक गमन करता है।<sup>९</sup> लोकान्त (सिद्धालय) के बाद गति में सहायक धर्मद्रव्य (गतिद्रव्य) का अभाव होने से आगे (अलोकाकाश में) गमन नहीं होता है।<sup>१०</sup> अनन्त शक्ति होने पर भी मुक्त जीव लोकान्त के बाहर नहीं जाते क्योंकि वे सब प्रकार की कामनाओं से रहित (पूर्ण-काम) हैं। अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख की जो वहाँ सत्ता मानी गई है वह अतीन्द्रिय अपरोक्ष ज्ञान (केवलज्ञान) तथा अतीन्द्रिय सुख (आत्मस्थ ज्ञान-सुख) है। इन्द्रिय, मन, शरीर आदि का अभाव होने से वहाँ तज्जन्य सुखादि का अभाव है। शरीर का अभाव होने से पूर्णतः अरूपी और सूक्ष्म अवस्था है। इसीलिए अनेक मुक्त (सिद्ध) जीव एक ही स्थान पर बिना व्यवधान के ठहर जाते हैं। वहाँ पर सभी मुक्त या तो पद्मासन में हैं या खड्गासन में, क्योंकि मुक्त जीव इन्हीं दो अवस्थाओं में ध्यान करते हुए मुक्त होते हैं। मुक्तावस्था में सभी एकसमान ज्ञान, सुखादि से युक्त होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं होता है। यदि वहाँ कोई भेद (क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग आदि के भेद से बारह प्रकार का) है तो वह उपचार से पूर्व जन्म (भूतकाल) की अपेक्षा से है।<sup>११</sup>

### अन्य दर्शनों के साथ तुलना

जैनदर्शन में जीवन्मुक्त को भी स्वीकार किया गया है। यह सशरीरी अवस्था है और आयु की समाप्ति पर नियम से उसी भव में विदेहमुक्त होता है। इसके सभी घातिया कर्म (आत्मा के स्वाभाविक या अनुजीवी गुणों के प्रत्यक्ष घातक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म) नष्ट हो जाने से वह 'अर्हत्' (केवलज्ञानी) कहलाता है।

इस तरह जैनधर्म में बौद्धों की तरह अभावरूप निर्वाण (मोक्ष) को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि भावरूप पदार्थ का कभी अभाव नहीं होता है। न्याय-वैशेषिकों की तरह

४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

आत्मा के ज्ञान और सुख विशेष गुणों (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार- ये नौ न्याय दर्शन में आत्मा के विशेष गुण माने गए हैं जिनका मुक्तावस्था में अभाव हो जाता है। जैन ज्ञान और सुख को छोड़कर शेष का अभाव मानते हैं।) का अभाव भी स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि यदि ऐसा माना जाएगा तो आत्मा जड़ हो जाएगा और कोई भी व्यक्ति जड़ (अचेतन) होना नहीं चाहता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वहाँ दुःख के साथ इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, सुखादि का भी अभाव हो जाता है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा और मन का संयोग होने पर ज्ञानादि आत्मा के विशेष गुण उत्पन्न होते हैं और मोक्ष में मन का संयोग न होने से ज्ञानादि गुण भी नहीं रहते हैं।<sup>१२</sup> सांख्य-योग दर्शन की भी करीब-करीब यही स्थिति है क्योंकि चेतन पुरुष तत्त्व साक्षी मात्र है और बुद्धि (महत्) प्रकृति का विकार (जड़) है। अतः यहाँ भी मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं है क्योंकि वह प्रकृति के संयोग से होता है और मुक्तावस्था में आत्मा के साथ प्रकृति का संयोग नहीं माना गया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में सुख और ज्ञान की सत्ता तो है परन्तु वहाँ एक ही आत्म तत्त्व है।<sup>१३</sup>

### मुक्तात्माओं में तिरोहित आठ गुणों का आविर्भाव

जैनदर्शन में सिद्धालय में पुद्गल (जड़ तत्त्व) के परमाणुओं के साथ आत्मा का संयोग तो है परन्तु आत्मा में रागादि का अभाव होने से वे परमाणु कर्मरूप परिणत नहीं होते हैं। अतः पुनर्जन्म नहीं होता है।

जैनदर्शन में कर्म मूलतः आठ प्रकार के माने गए हैं जो आत्मा के स्वाभाविक आठ गुणों को ढँक देते हैं। इन कर्मों के हटने पर सभी सिद्धों (विदेह मुक्तों) में निम्न आठ गुण प्रकट हो जाते हैं।<sup>१४</sup>-

१. क्षायिक सम्यक्त्व (निर्मल श्रद्धान)- मोहनीय कर्म के क्षय से प्रकट गुण।
२. अनन्तज्ञान (तीनों लोकों का त्रैकालिक पूर्ण ज्ञान)- ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्रकट गुण।
३. अनन्तदर्शन (तीनों लोकों के द्रव्यों का अवलोकन)- दर्शनावरणीय कर्मक्षय से प्रकट गुण।
४. अनन्तवीर्य (अतुल सामर्थ्य या शक्ति)- अन्तराय कर्मक्षय से प्रकट गुण।
५. सूक्ष्मत्व (अमूर्तत्व या अशरीरत्व)- नामकर्म के क्षय से प्रकट गुण।
६. अवगाहनत्व (जन्म-मरण का अभाव)- आयुकर्म के क्षय से प्रकट गुण।

इस गुण के होने पर एक स्थान पर अनन्त सिद्ध ठहर सकते हैं क्योंकि उनके अमूर्त होने से कोई बाधा नहीं होती।

७. अगुरुलघुत्व (छोटे-बड़े का भेदाभाव, समानता)- गोत्रकर्म तथा नामकर्म के क्षय से प्रकट गुण।
८. अव्याबाधत्व (अनन्त सुख या अतीन्द्रिय अपूर्व सुख। साता-असातारूप आकुलता का अभाव)- वेदनीय कर्म-क्षय से प्रकट गुण।

यहाँ इतना विशेष है कि एक-एक कर्मक्षय जन्य गुण का यह कथन प्रधानता की दृष्टि से सामान्य कथन है क्योंकि उनमें अन्य कर्मों का क्षय भी आवश्यक होता है। वस्तुतः आठों ही कर्मों का समुदाय एक सुख गुण का प्रतिबन्धक है।<sup>१५</sup> अभेददृष्टि से जो केवलज्ञान है वही सुख है। दिगम्बर मान्यतानुसार निर्ग्रन्थ मुनि ही सिद्ध होते हैं परन्तु श्वेताम्बर मान्यतानुसार स्त्री तथा गृहस्थ भी सिद्ध हो सकते हैं।

### अन्य विशेषताएँ

मुक्त होने पर भी वस्तु का जो स्वभाव है उत्पत्ति, विनाश और नित्यता वह मुक्तात्मा में भी है परन्तु वह समानाकार (षट्-गुण हानि-वृद्धि रूप) है। मुक्तों को निरंजन, निराकार, निकल, परमात्मा, सिद्ध आदि नामों से भी जाना जाता है। सिद्ध न तो निर्गुण हैं और न शून्य; न अणुरूप हैं और न सर्वव्यापक अपितु आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा चरम-शरीर (अर्हन्तावस्था का शरीर) के आकाररूप में रहते हैं। वे सांख्यवत् न तो चैतन्यमात्र हैं और न न्याय-वैशेषिकवत् जड़ अपितु चैतन्यता के साथ ज्ञानशरीरी (सर्वज्ञ) हैं क्योंकि आत्मा ज्ञान-स्वरूपी और चैतन्यरूप है।<sup>१६</sup> अतः मुक्तात्मा ज्ञान गुण के अविनाभावी सुखादि अनन्त चतुष्टय से भी सम्पन्न है।

### उपसंहार

इस तरह शुद्ध आत्म-स्वरूपोपलब्धि मोक्ष है जहाँ सभी प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) का अभाव हो जाता है। इस कथन से सभी आत्मवादी दर्शन सहमत हैं। वहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख की सत्ता को भी वेदान्त और जैन स्वीकार करते हैं परन्तु न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य में इनके अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि न्यायदर्शन में इन गुणों का मोक्ष में अभाव है।<sup>१७</sup> तथा सांख्य में भी ज्ञान और सुख प्रकृति-संसर्ग के धर्म हैं जिनका वहाँ अभाव है। बौद्धों के यहाँ तो आत्मा जिसे वे पञ्चस्कन्धात्मक मानते हैं उसकी चित्त-सन्तति का ही अभाव वहाँ मान लेते हैं जो सर्वथा अकल्पनीय है।

६।: श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

वेदान्त में आत्मा को सर्वथा नित्य और व्यापक माना गया है, अतः वहाँ बन्धन और मोक्ष की व्याख्या सापेक्षवाद के बिना दुर्घट है। बौद्ध दर्शन में आत्मा को सर्वथा अनित्य कहा है सो वहाँ भी बन्ध-मोक्ष व्यवस्था सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ कर्म-कर्ता, कर्म-बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने वाला साधक तथा कर्मफल-भोक्ता अलग-अलग हैं। न्याय दर्शन में तो चैतन्याभाव है, अतः यह पक्ष भी मोक्षोपयोगी नहीं लगता। इसीलिए लोगों को वृंदावन के जंगल में निवास करना न्याय वैशेषिक के मोक्ष जाने की अपेक्षा अधिक अच्छा लगता है।<sup>१८</sup>

जैन अपने आत्मस्वरूपानुसार मोक्ष में दुःखाभाव, अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान, दर्शन, सुख और सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं। उसके अरूपी स्वभाव के कारण उसमें अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व आदि को भी मानते हैं। अव्यवहित पूर्व-जन्म के शरीर-परिमाण के अरूपी आकार को मानते हैं क्योंकि आत्मा न तो व्यापक है और न अणुरूप। ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से लोकान्त में निवास मानते हैं। कर्म-सम्बन्ध न होने से पुनर्जन्म नहीं मानते।

जीवन्मुक्तों को 'अर्हन्त' या 'केवली' कहते हैं और विदेहमुक्त को 'सिद्ध'। द्रव्य का स्वरूप 'उत्पाद-व्यय-श्रौव्य' रूप स्वीकार करने के कारण मुक्तात्मा में भी समानाकार परिणामन तो मानते हैं परन्तु स्थान-परिवर्तन (गमन क्रिया) नहीं मानते। वहाँ सभी मुक्त सदा पूर्णतः कर्ममुक्त रहते हैं तथा सभी समान गुण वाले होते हैं, वहाँ कोई भी भेद नहीं है। यदि कोई भेद माना है तो उपचार से मुक्तपूर्व जन्म की अपेक्षा। कर्माभाव होने से सभी नाम-कर्मजन्य शरीर तथा मन आदि से रहित हैं। शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा का वहाँ वास है। ज्ञान, सुखादि आत्मा से पृथक् नहीं हैं। मुक्तावस्था को प्राप्त सभी जीव ईश्वर हैं क्योंकि जैनदर्शन में कोई अनादि दृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं है। सभी जीव संसार-बन्धन काटकर मुक्त हुए हैं। मुक्त पूर्णकाम होने से वीतरागी (इच्छारहित) हैं।

## सन्दर्भ

१. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

—कठ०उप० १.२.२

२. चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।

तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

- तत्त्वसंग्रहपंजिका, आचार्य कमलशील, पृ० १०४
३. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्त्वार्थसूत्र, १.१ तथा ९.३९-४६
४. द्रष्टव्य, दीघनिकाय हिन्दी (अनुवाद), पृ० २८-२९
५. न्यायसूत्र ४.२.३८-४८, वेदान्तसार, पृ० ४७-५०
६. देखें, टि० ३
७. बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।
८. अप्पणो वसहिं वए। उत्तराध्ययन, १४.४८  
आत्मलाभं विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।  
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥ सिद्धि-विनिश्चय, पृ० ३८४
९. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ तत्त्वार्थसूत्र, १०.५  
पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्चा। तत्त्वार्थसूत्र, १०.६  
आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्चा।  
तत्त्वार्थसूत्र, १०.७
१०. धर्मास्तिकायाभावात् । तत्त्वार्थसूत्र, १०.८
११. क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः। तत्त्वार्थसूत्र, १०.९
१२. साक्षात्कारे सुखादीनां कारणं मन उच्यते। भाषा-परिच्छेद, का० ८५
१३. यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य ह्यदि स्थिताः ।  
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ कठोपनिषद्, २.३.१४
१४. सम्मत्ताणाणदंसण-वीरिय-सुहुमं तहेव अवगहणं।  
अगुरुलघुमव्वावाहं अट्टगुणा होंति सिद्धाणं ॥लघु सिद्ध-भक्ति, ८  
अट्टविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा  
अट्टगुण कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥गो०जी०, ६८
१५. स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम् । प्र०सा, त०प्र०, ६१  
कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैक-गुणस्य च ।

८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

अस्ति किञ्चन कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् । पं०अ०, उ० १११४  
जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणामं च सो चेव।

खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥प्र०सा०, ६०॥

१६. सकलविप्रमुक्तः सन्नात्मा समग्रविघात्मवपुर्भवति न जडो, नापि  
चैतन्यमात्ररूपः। स्वयम्भूस्तोत्र, टीका ५/१३

१७. पं० बलदेव उपाध्याय, न्यायदर्शन, भारतीय दर्शन , पृ० २७०  
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः। न्यायमञ्जरी, पृ० ७७

१८. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।

गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥ नैषधचरित, १७.७५

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।

वैशेषिकोक्तमोक्षस्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥ स० सि० सं०, पृ० २८

नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदः मोक्षः।

\*\*\*

## जैन दर्शन में काल का स्वरूप

प्रो० धर्मचन्द्र जैन

विद्वान् लेखक ने काल के सम्बन्ध में प्रचलित जैनेतर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करते हुए जैन दृष्टि से काल का स्वरूप उभय-परम्परानुसार बतलाया है। जैनदर्शन में काल को पृथक् क्यों कहा है? द्रव्य-व्यवस्था में उसकी क्या उपयोगिता है? इन सब विषयों पर इसमें सप्रमाण विवेचन किया गया है।

- सम्पादक

**भारतीय परम्परा में काल :**

भारतीय परम्परा में काल गहन चिन्तन का विषय रहा है। विभिन्न प्राचीन भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों में एक कालवाद नामक सिद्धान्त भी मान्य रहा है, जिसका मन्तव्य है कि जो कोई भी कार्य घटित होता है, उसमें काल ही प्रमुख कारण होता है। कालवाद की इस मान्यता का प्रतिपादक एक प्रसिद्ध श्लोक है-

**कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।**

**कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।<sup>१</sup>**

अर्थात् काल ही पृथ्वी आदि भूतों का परिणामन करता है, काल ही प्रजा यानी जीवों को पूर्व पर्याय से प्रच्यवित कर अन्य पर्याय में स्थापित करता है। काल ही जीवों के सो जाने पर जागता है। काल की कारणता का अपाकरण नहीं हो सकता। काल को परमात्मा के रूप में भी स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद, नारायणोपनिषद्, शिवपुराण, भगवद्गीता आदि ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ५३-५४वें सूक्त में काल का विवेचन हुआ है। वहाँ काल की महिमा का गान करते हुए कहा है-

**कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम् ।**

**स्वयम्भूः कश्यपः कालात्, तपः कालादजायत।।**

**कालादाप समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।**

**कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः।।<sup>२</sup>**

काल ने प्रजा (जगत् एवं जीवों) को उत्पन्न किया। काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया। स्वयंभू कश्यप भी काल से उत्पन्न हुए तथा तप भी काल से उत्पन्न हुआ। काल से जल-तत्त्व उत्पन्न हुआ। काल से ही ब्रह्मा, तप और दिशाएँ उत्पन्न हुईं।

१० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

काल से ही सूर्य उदित होता है तथा काल में ही निविष्ट होता है। नारायणोपनिषद् में काल को नारायण<sup>३</sup>, शिवपुराण में काल को ईश्वर<sup>४</sup> तथा विष्णुपुराण में उसे ब्रह्म का परम प्रधान रूप कहा गया है।<sup>५</sup> भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं -

**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।<sup>६</sup>**

अर्थात् मैं लोक का क्षय करने वाला प्रवृद्ध काल हूँ तथा इस समय लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ।

कालवाद का प्रथम उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राप्त होता है- 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या'<sup>७</sup> इसका तात्पर्य है कि काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, पुरुष आदि कारण हैं। ज्योतिर्विद्या में काल के आधार पर ही समस्त गणनाएँ की जाती हैं तथा जीवन की भूत-भविष्य की घटनाओं का आकलन काल के आधार पर किया जाता है। बुरे दिनों या अच्छे दिनों का आना आदि जनमान्यता, काल की कारणता को इंगित करती है। कालवाद की मान्यता के अनुसार काल ही सर्वविध कार्यों का कारण है।

भारतीय दर्शनों में भी काल के स्वरूप एवं उसकी कारणता का प्रतिपादन हुआ है, किन्तु इनमें कालवाद की मान्यता से भिन्न प्रतिपादन है। वैशेषिक दर्शन में काल को एक द्रव्य माना गया है। "पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि"<sup>८</sup> सूत्र से स्पष्ट है कि काल एक द्रव्य है। काल का अनुमान ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व, क्रम-यौगपद्य, चिर-क्षिप्र आदि प्रत्ययों से होता है।<sup>९</sup> वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल नित्य है। संख्या में एक ही है। भूत, भविष्य और वर्तमान में इसे विभक्त किया जा सकता है। प्रशस्तपादभाष्य में कालों की संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग- इन पाँच गुणों से युक्त माना गया है।<sup>१०</sup> वैशेषिक दर्शन में काल को सभी क्रियाओं का सामान्य कारण माना गया है, ऐसा 'कारणने कालः'<sup>११</sup> सूत्र से सिद्ध होता है। काल निमित्त कारण बनता है, **समवायी** कारण नहीं।

न्यायदर्शन में बारह प्रमेय पदार्थों में काल की गणना नहीं की गयी है, किन्तु काल की सत्ता को स्वीकार अवश्य किया गया है। उदाहरणार्थ मन की सिद्धि करते हुए नैयायिक कहते हैं- "युगपज्जानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।"<sup>१२</sup> यहाँ युगपद् शब्द काल का बोधक है। प्रसंगवश एक स्थल पर अक्षपाद गौतम ने दिशा, देश, काल और आकाश की कारणता के सम्बन्ध में काल शब्द का प्रयोग भी किया है।<sup>१३</sup>

सांख्यदर्शन के २५ तत्त्वों में कहीं भी काल का उल्लेख नहीं आया है, तथापि सांख्यप्रवचनभाष्य के द्वितीय अध्याय में उल्लेख प्राप्त होता है कि दिशा और काल आकाश के ही स्वरूप हैं।<sup>१४</sup> ये दोनों आकाश प्रकृति के गुण विशेष हैं। आकाश के विभु होने के कारण दिक् और काल भी विभु हैं। जो दिक्-काल आदि के खण्ड प्राप्त होते हैं वे उपाधि संयोग आदि से आकाश से उत्पन्न माने गये हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन में प्रकारान्तर से काल को अंगीकार किया गया है तथा उसके विभु और खण्ड दोनों स्वरूप स्वीकार किये गए हैं। युक्तिदीपिकाकार ने उपादान का सामर्थ्य होने पर भी काल की अपेक्षा को अंगीकार किया है। सांख्य दर्शन में काल को तृतीय तृष्टि के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है।<sup>१५</sup>

योग दर्शन में व्यासभाष्य के अन्तर्गत काल का विवेचन क्षण एवं क्रम की व्याख्या करते हुए प्राप्त होता है। क्षण को परिभाषित करते हुए व्यास कहते हैं कि एक परमाणु पूर्व स्थान को छोड़कर उत्तर स्थान को जितने समय में प्राप्त होता है वह काल 'क्षण' कहलाता है। इस क्षण के प्रवाह का विच्छेद न होना ही क्रम कहलाता है। क्षण वास्तविक है तथा क्रम का आधार है। क्रम अवास्तविक है, क्योंकि दो क्षण कभी भी साथ नहीं रहते हैं। पहले वाले क्षण के अनन्तर दूसरे क्षण का होना ही क्रम कहलाता है, इसलिए वर्तमान एक क्षण ही वास्तविक है पूर्वोत्तर क्षण नहीं। मुहूर्त, अहोरात्र आदि जो क्षण-समाहार रूप व्यवहार है, वह बुद्धि कल्पित है, वास्तविक नहीं।<sup>१६</sup> काल और दिक् को सांख्यदर्शन की भाँति योग दार्शनिक विज्ञान भिक्षु ने आकाश से ही उत्पन्न स्वीकार किया है।<sup>१७</sup> मीमांसा दर्शन में काल का स्वरूप वैशेषिक दर्शन के ही समान माना गया है। पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका टीका के व्याख्याकार पंडित रामकृष्ण का मतव्य है कि वैशेषिक जहाँ काल को अप्रत्यक्ष मानते हैं, वहाँ मीमांसक मत में वह प्रत्यक्ष है।<sup>१८</sup> अद्वैत वेदान्त दर्शन में व्यावहारिक रूप से काल को स्वीकार किया गया है। वेदान्त परिभाषा में चैमित्तिक प्रलय में काल को निमित्त माना गया है। शुद्धाद्वैत दर्शन में काल को अतीन्द्रिय होने से कार्य से अनुमित स्वीकार किया गया है।<sup>१९</sup> बौद्धदर्शन में भी भूत, भविष्य एवं वर्तमान के रूप में काल स्वीकृत है। वस्तु को कालक्षण को स्वीकार करने के आधार पर ही क्षणिक कहा गया है।

व्याकरण दर्शन में भी काल की चर्चा प्राप्त होती है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में काल समुद्देश के अन्तर्गत काल के स्वरूप एवं भेदों पर विचार किया है। काल को हेलाराज ने अमूर्त क्रिया के परिच्छेद का हेतु प्रतिपादित किया है- **कालोऽमूर्त्तक्रियापरिच्छेदहेतुः।**<sup>२०</sup> उत्पत्ति, स्थिति और विनाश क्रियाओं में तथा इन क्रियाओं से युक्त पदार्थों की उत्पत्ति आदि में काल निमित्त कारण होता है।

### जैनदर्शन में काल की द्रव्यता विषयक मतभेद :

जैन दर्शन में काल को द्रव्य स्वीकार करने के सम्बन्ध में मत-वैभिन्न्य है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति अथवा उमास्वामी 'कालश्चेत्येके'<sup>२१</sup> सूत्र से मतभेद का संकेत करते हैं। जैन दर्शन में लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा गया है<sup>२२</sup>, अतः उसमें काल द्रव्य का समावेश स्वतः हो जाता है, किन्तु भगवतीसूत्र में लोक को पंचास्तिकायात्मक भी कहा गया है।<sup>२३</sup> पंचास्तिकाय में काल का अन्तर्भाव नहीं होने से उसकी पृथक् द्रव्यता पर प्रश्नचिह्न उपस्थित होता है। दिगम्बर परम्परा में तो निर्विवाद रूप से काल को द्रव्य अङ्गीकार किया गया है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में दो मत हैं। कुछ श्वेताम्बर जैन दार्शनिक काल को पृथक् द्रव्य अङ्गीकार करते हैं तथा कुछ नहीं। इन दोनों मतों का उल्लेख जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य में, हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहण में, उपाध्याय विनयविजय की कृति लोकप्रकाश आदि ग्रन्थों में संग्रात है।<sup>२४</sup>

### काल की पृथक् द्रव्यता अस्वीकृति में तर्क :

जो दार्शनिक काल की पृथक् द्रव्यता अङ्गीकार नहीं करते वे कहते हैं कि धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का पर्याय ही काल है, उसका पृथक् अस्तित्व असिद्ध है। इस मत के प्रतिपादन में व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में निरूपित भगवान् महावीर एवं गौतम गणधर के मध्य संवाद प्रमुख आधार है।<sup>२५</sup> गौतम गणधर ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया- 'किमिदं भन्ते! काले त्ति पवुच्चति।' भगवन् यह काल किसे कहा जाता है? भगवान् ने उत्तर दिया- जीवा चैव अजीवा चैव। अर्थात् काल जीव भी है और अजीव भी। जीवों की पर्याय रूप से यह काल जीवस्वरूप है एवं अजीव द्रव्यों की पर्याय रूप में यह अजीव रूप है। स्थानाङ्गसूत्र में भी कहा गया है- समयाति वा आविलयति वा जीवाति वा अजीवाति वा पवुच्चति<sup>२६</sup> अर्थात् जो पर्याय उत्पन्न होती है एवं विलीन होती है, वह जीव एवं अजीव पर्याय ही होती है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य में भी काल का जीव और अजीव द्रव्यों के पर्याय रूप में उल्लेख किया गया है। वहाँ पर कथन है- "सो वत्तणाइरूवो कालो दव्वस्स चैव पज्जाओ।"<sup>२७</sup> वह वर्तनादिस्वरूप काल द्रव्य की ही पर्याय है। हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहण के टीकाकार मलयगिरि का भी कथन है कि काल जीव एवं अजीव द्रव्यों का पर्याय होता है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मलयगिरि के शब्दों में- "जीवादिवस्तु से व्यतिरिक्त काल नामक परिकल्पित पदार्थ प्रत्यक्ष से कहीं उपलब्ध नहीं होता है।"<sup>२८</sup> टीकाकार मलयगिरि

यहाँ काल के द्रव्यत्व को अङ्गीकार करने वाले वैशेषिक मत को पूर्वपक्ष में उपस्थापित करते हैं - “प्रत्यक्ष से काल भले ही उपलब्ध न हो, अनुमान से तो उसकी प्राप्ति होती है, क्योंकि पूर्वापर व्यवहार देखा जाता है। वह पूर्वापर व्यवहार वस्तु के स्वरूप मात्र का निमित्त नहीं होता है, क्योंकि वह तो वर्तमान में भी होता है। इसलिए वह जिस निमित्त से होता है वह काल है, उस काल का पूर्वत्व और अपरत्व स्वयं जान लेना चाहिए, अन्यथा अनवस्था का प्रसङ्ग आता है। अतः पूर्वकालयोगी पूर्व है तथा अपरकालयोगी अपर है।” कहा गया है- “पूर्वकालादियोगी यः स पूर्वाद्यपदेशभाक् पूर्वापरत्वं तस्यापि स्वरूपादेव नान्यतः।”<sup>१९</sup>

आचार्य मलयगिरि वैशेषिकों की इस युक्ति का प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि काल एक ही है तो उसमें पूर्वापरत्व कैसे सम्भव है? यदि सहचारी के सम्पर्क के कारण काल की पूर्वत्व, अपरत्व आदि कल्पना की जाती है तो यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इतरेतराश्रय दोष का प्रसङ्ग आता है। क्योंकि सहचारी राम आदि की पूर्वता कालगत पूर्वत्वादि योग से होगी एवं काल की पूर्वत्वादिता सहचारी राम आदि के योग से होगी। इस प्रकार एक के असिद्ध होने पर दूसरा असिद्ध हो जाता है। इसलिए पर परिकल्पित काल युक्ति से अनुपपन्न होने के कारण वर्तनालक्षण काल ही स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि इसमें बिना कठिनाई के पूर्व आदि का प्रयोग सम्भव है, क्योंकि अतीत वर्तना को पूर्व, भावी वर्तना को अपर और तत्काल में होने वाली वर्तना को वर्तमान कहा जाता है। उस वर्तना लक्षण काल के प्रति द्रव्य भिन्न होने के कारण यह अनन्त है। इसलिए यह कथन उपयुक्त है कि वह काल जीवाजीवादि पर्याय रूप धर्म है।<sup>२०</sup>

काल पृथक् द्रव्य नहीं है, इसकी पुष्टि में लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय कहते हैं- “वर्तनादि पर्याय रूप काल जीव-अजीव का स्वरूप है एवं द्रव्य से अभिन्न है। वर्तनादिस्वरूप काल पृथक् द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि यदि द्रव्य की पर्याय ही पृथक् द्रव्य के रूप में स्वीकार की जायेगी तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। काल तो द्रव्यों के पर्यायरूप है, अतः वह पृथक् द्रव्य नहीं हो सकता।” उपाध्याय विनयविजय अन्य तर्क देते हुए कहते हैं, “जिस प्रकार व्योम सर्वत्र विद्यमान होने से अस्तिकाय माना जाता है तो उसी प्रकार वर्तमानस्वरूप एवं सर्वत्र व्याप्त काल को भी अस्तिकाय की कोटि में अङ्गीकार किया जाना चाहिए, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि आगमों में पाँच ही अस्तिकाय माने गए हैं।”<sup>२१</sup> इस प्रकार जहाँ काल की पृथक् द्रव्यता का निरसन किया गया है वहाँ जैनदार्शनिक काल की पृथक् द्रव्यता को सिद्ध करने में भी अनेक हेतु प्रस्तुत करते हैं।

## काल की पृथग्द्रव्यतासिद्धि में तर्क :

यह तो विदित ही है कि दिगम्बर परम्परा में निर्विवाद रूप से काल को पृथक् द्रव्य अङ्गीकार किया गया है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा भी इसकी सिद्धि में अनेक तर्क प्रस्तुत करती है। आगमों में द्रव्य छह कहे गए हैं तथा अस्तिकाय पाँच। कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि द्रव्य पाँच होते हैं। इस आगम संदर्भ से ही सिद्ध होता है कि काल भी एक द्रव्य है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र एवं अनुयोगद्वार सूत्र में धर्मास्तिकायादि छह द्रव्यों का कथन है।<sup>३२</sup> काल की पृथग्द्रव्यता सिद्धि में आचार्य विद्यानन्द, मलयगिरि और उपाध्याय विनयविजय ने अनेक तर्क दिए हैं। विद्यानन्द दिगम्बर दार्शनिक हैं, किन्तु तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उन्होंने द्रव्य के लक्षण 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'<sup>३३</sup> को काल में घटित करने का प्रयत्न किया। वे कहते हैं कि 'द्रव्य' गुण एवं पर्याययुक्त होता है। काल भी गुणयुक्त एवं पर्याययुक्त होता है। काल में सामान्यतः संयोग, विभाग, संख्या, परिमाण आदि गुण तथा विशेषरूप से सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व, एक प्रदेशत्व आदि गुण होते हैं। अन्य पदार्थों के क्रम-वर्तन में जो वर्तना आदि कारण हैं वे काल की पर्याय हैं, अतः काल भी गुणपर्यायवान होने से द्रव्य है।<sup>३४</sup>

प्रश्न उत्पन्न होता है कि अलोकाकाश में कालद्रव्य नहीं होता है अतः वहाँ पर्यायपरिवर्तन कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में विद्यानन्द कहते हैं कि आकाश तो अखण्ड है उसके लोकाकाश एवं अलोकाकाश भेद औपचारिक हैं। अतः लोकाकाश में कालद्रव्य के निमित्त से जो पर्याय परिवर्तन होता है वह सम्पूर्ण आकाशद्रव्य का एक साथ होता है। अतः अलोकाकाश का भी पर्याय परिवर्तन साथ ही हो जाता है।<sup>३५</sup>

आचार्य मलयगिरि काल को द्रव्य सिद्ध करने हेतु निम्नलिखित तर्क देते हैं-<sup>३६</sup>

- १- धर्मास्तिकायादि पाँच द्रव्यों से पृथक् अढाई द्वीप समुद्र के भीतर रहने वाला षष्ठ काल द्रव्य है जिसके कारण बीता हुआ कल, आने वाला कल इत्यादि का ज्ञान होता है तथा ये कालवाची शब्द भी यथार्थ हैं क्योंकि आप्त के द्वारा प्रयोग किए गए हैं।
- २- आगम में भी साक्षात् कहा गया है कि छठा द्रव्य काल है, यथा "कइ णं भंते दव्वा पण्णत्ता?! छ दव्वा पण्णत्ता तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए इति।"
- ३- यह अद्धासमय पूर्वापर कोटि से रहित नहीं है, क्योंकि अत्यन्त असत् का

उत्पाद नहीं होता तथा सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता, अपितु वह काल पूर्वापर में अन्वयी है। उसका अन्वयी रूप ध्रुव है, पूर्वापरपर्याय के नाश एवं उत्पाद से उसमें व्यय एवं उत्पाद की सिद्धि होती है। अतः 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सल्लक्षणयोग से कालद्रव्य की सत्ता-सिद्धि होती है।

४- 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' एवं 'द्रव्यम् सल्लक्षणम्'। सूत्रानुसारी द्रव्यलक्षण भी काल में घटित होने से वह स्वतन्त्र द्रव्य है।  
उपाध्याय विनयविजय ने भी काल की सिद्धि में विभिन्न तर्क दिए हैं, यथा-

- १- जिस प्रकार स्कन्धादि कार्यो से परमाणु स्वरूप कारण का अनुमान होता है उसी प्रकार सूर्य आदि की गति को देखकर काल का अनुमान होता है।<sup>३७</sup>
- २- समयादि विशेष स्वरूप के आधार से काल का पृथक् द्रव्यत्व सिद्ध होता है।<sup>३८</sup>
- ३- लोक में नानाविध ऋतुभेद दृष्टिगोचर होता है, जिसका कारण काल है।<sup>३९</sup>
- ४- अन्य समस्त कारणों के होने पर भी आम्रादि वृक्षों में फल नहीं लगते हैं, वे नाना शक्ति समन्वित काल की अपेक्षा रखते हैं।<sup>४०</sup>
- ५- काल द्रव्य को स्वीकार किए बिना वर्तमान, अतीत, भविष्यत आदि शब्दों का प्रयोग संभव नहीं है तथा कालद्रव्य के बिना इनका पृथक् रूप से ज्ञान भी सम्भव नहीं।<sup>४१</sup>
- ६- क्षिप्र, चिर, दिवस, मास, वर्ष, युग आदि शब्द भी काल द्रव्य को सिद्ध करते हैं।<sup>४२</sup>
- ७- जिस शुद्ध पद से जो वाच्य होता है वह संसार में अवश्य होता है, इस अनुमान से भी काल शब्द के द्वारा कालद्रव्य की सिद्धि होती है।<sup>४३</sup>

भट्ट अकलङ्क ने तात्त्वार्थवार्तिक में यह स्पष्ट किया है कि आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों का आधार होता है, परन्तु उनकी वर्तना में निमित्त कालद्रव्य ही होता है। कालद्रव्य की वर्तना में अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती। काल द्रव्य का वर्तना लक्षण दूसरे द्रव्यों की सत्ता सिद्ध करने के साथ स्वकाल द्रव्य की भी सत्ता सिद्ध कर देता है।<sup>४४</sup>

**काल के उपकार : वर्तनादि का स्वरूप :**

जैन दर्शन में काल के कुछ उपकार या कार्य स्वीकृत हैं, यथा वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्वा।<sup>४५</sup> इन कार्यो से कारण स्वरूप काल द्रव्य का अनुमान

होता है। वर्तना एवं परिणाम शब्दों का प्रयोग काल के स्वरूप-विवेचन में जैन दार्शनिकों ने ही किया है। वर्तना, परिणाम एवं क्रिया में अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। परत्वापरत्व का अभिप्राय तो जैन दर्शन में भी वही है जो वैशेषिक दर्शन में मान्य है। अर्थात् परत्व शब्द ज्येष्ठ का बोधक है एवं अपरत्व कनिष्ठ का बोध कराता है। ज्येष्ठ-कनिष्ठ का व्यवहार व्यवहार काल के आश्रित है। यदि काल नामक द्रव्य मान्य न हो तो ज्येष्ठ-कनिष्ठ का भेद नहीं हो सकेगा। अब वर्तना, परिणाम एवं क्रिया का स्वरूप समझ लें। तत्त्वार्थभाष्य में कहा गया है- **“सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः।”**<sup>४६</sup> समस्त पदार्थों की जो काल के आश्रित वृत्ति है वह वर्तना है। दूसरे शब्दों में कहें तो वस्तु का अस्तित्व काल के आश्रित है। सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद कहते हैं- **“वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति भवति। वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना इति। धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृतिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तमानोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः।”**<sup>४७</sup> ‘वर्तना’ शब्द ‘वृत्तु वर्तने’ धातु से णिच् प्रत्यय एवं फिर युट् प्रत्यय लगकर बना है। वस्तु का वर्तनमात्र वर्तना है। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव एवं पुद्गल द्रव्य अपनी पर्यायों को स्वयं प्राप्त होते हैं, तथापि उनमें बाह्य उपग्रह के रूप में काल कारण बनता है। वह उदासीन निमित्त कारण होता है। वर्तना के उपादान कारण तो स्वयं धर्म, अधर्म आदि द्रव्य होते हैं। यह वर्तना उत्पत्ति, स्थिति अथवा गति के रूप में प्रथम समय आश्रित मानी गई है जैसा कि तत्त्वार्थभाष्यकार कहते हैं- **‘वर्तना उत्पत्तिः स्थितिरथ गतिः प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थः।’**<sup>४८</sup> द्रव्य चाहे उत्पत्ति अवस्था में हो, चाहे स्थिति अवस्था में हो या गति अवस्था में, वह जिस भी अवस्था में प्रथम समय में वर्तमान है वह काल के वर्तना नामक उपग्रह या कार्य का फल है। परिणाम, क्रिया आदि की व्याख्या द्वितीयादि समयों के आश्रित होती है। लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय जी कहते हैं-

**द्रव्यस्य परमाण्वादेर्या तद्रूपतया स्थितिः।  
नवजीर्णतया वा सा वर्तना परिकीर्तिता।**<sup>४९</sup>

अर्थात् द्रव्य की या परमाणु आदि की तत्स्वरूप से अथवा नवीनता या जीर्णता रूप से जो अवस्थिति है वह वर्तना कही गई है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की वर्तना बहिरंग कारण की अपेक्षा रखती है और उनका बहिरंग कारण काल है। काल के वर्तन का अन्य कोई निमित्त कारण नहीं है। यदि उसकी वर्तना का अन्य कोई निमित्त कारण माना

जाए तो अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। वर्तना को यदि धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का ही कार्य माना जाए तो उपादान कारणों की भिन्नता होने से इनसे एक प्रकार का कार्य होना सम्भव नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न उपादान कारण भिन्न-भिन्न कार्यों को जन्म देते हैं, किसी एक प्रकार के कार्य को नहीं।<sup>५०</sup> अतः काल को ही वर्तना का कारण मानने से समस्या का निराकरण हो जाता है। परिणाम का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए पूज्यपाद कहते हैं- **“द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः। जीवस्य क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः।”**<sup>५१</sup> द्रव्य की अपरिस्पन्दात्मक पर्याय को ही परिणाम कहते हैं। यह एक धर्म की निवृत्तिरूप तथा अन्य धर्म की उत्पत्तिस्वरूप होता है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में परिमाण को स्पष्ट करते हुए कहा है- **“द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्त्रसालक्षणो विकारः परिणामः विस्त्रसापरिणामोऽनादिरादिमांश्च।”**<sup>५२</sup> स्वजाति का त्याग किए बिना द्रव्य का प्रयोग लक्षण एवं विस्त्रसा लक्षण वाला विकार परिणाम कहलाता है। इनमें विस्त्रसा परिणाम अनादि एवं आदिमान के भेद से दो प्रकार का है। उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में **‘तद्भावः परिणामः’**<sup>५३</sup> सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों तथा उनके गुणों का स्वभाव ही परिणाम है और वह अनादि एवं आदिमान के भेद से दो प्रकार का है।<sup>५४</sup> धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यों में अनादि परिणाम होता है तथा रूपी पुद्गल द्रव्य तथा जीव में अनादि एवं आदिमान दोनों परिणाम पाये जाते हैं। यह परिणमन रूप कार्य भी काल के बिना सम्भव नहीं। पर्याय परिणमन ही यहाँ परिणाम है। परिणाम को स्वभाव परिणाम एवं विभाव परिणाम के रूप में भी विवेचित किया गया है। जीव के क्रोधादि परिणाम विभाव परिणाम हैं तथा ज्ञान, दर्शनादि स्वभाव परिणाम हैं।

क्रिया परिस्पन्दात्मिका होती है। तत्त्वार्थ भाष्य में गति को क्रिया कहा है तथा इसे तीन प्रकार का निरूपित किया गया है- प्रयोगगति, विस्त्रसागति एवं मिश्रिका।<sup>५५</sup> पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रायोगिक एवं वैस्त्रसिक ये दो भेद निरूपित करते हुए शकट आदि की गति को प्रायोगिक एवं मेघ आदि की गति को वैस्त्रसिक कहा है।<sup>५६</sup> शकट को अश्व या वृषभ खींचते हैं, अतः जीव के प्रयत्न से युक्त होने के कारण यह प्रायोगिकी गति है तथा मेघ आदि स्वतः स्वाभाविक गति करते हैं अतः उनकी गति वैस्त्रसिकी कहलाती है। लुढ़कती हुई गेंद को पैर से धक्का मारने पर जो गति होती है उसे मिश्रिका कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें स्वतः गति के साथ जीव का प्रयत्न भी सम्मिलित है।

विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में क्रिया को द्रव्य की वह परिस्पन्दात्मक पर्याय माना है जो देशान्तर प्राप्ति में हेतु होती है तथा वह गति, भ्रमण आदि भेदों से युक्त होती है।<sup>५७</sup>

अब प्रश्न यह है कि क्रिया अथवा गति में तो निमित्त कारण धर्मास्तिकाय द्रव्य है, फिर काल भी उसमें निमित्त कैसे हुआ? यहाँ समझना यह है कि धर्मास्तिकाय जहाँ पदार्थों/द्रव्यों की सर्वविध गति में सीधा निमित्त कारण है वहाँ काल द्रव्य उस गति/क्रिया की निरन्तरता या अवधि का ज्ञान कराता एवं उसमें निमित्त भी होता है। यदि काल/समय न हो तो क्रिया की अवधारणा घटित नहीं हो सकती। व्याकरण दर्शन में जहाँ 'अमूर्तक्रियापरिच्छेदहेतुः काल'<sup>५८</sup> कहा गया है वहाँ जैनदर्शन में क्रिया की निष्पत्ति में भी काल को हेतु कहा जाता है।

परत्व-अपरत्व शब्दों का प्रयोग काल के सन्दर्भ में ज्येष्ठ-कनिष्ठ, नया-पुराना आदि अर्थों में अथवा पूर्वभावी पश्चाद्भावी के अर्थ में होता है। काल को स्वीकार किए बिना परत्व-अपरत्व बोध होना कठिन है।

इस प्रकार वर्तना को प्रथम समयाश्रित, परिणाम को द्वितीयादि समयाश्रित अपरिस्पन्दात्मक पर्याय तथा क्रिया को बहुसमयाश्रित परिस्पन्दात्मक गति, चेष्टा आदि कहा जा सकता है। परत्व-अपरत्व के स्वरूप में कोई विवाद नहीं है। वर्तनालक्षण काल परमार्थ काल है तथा परिणामादि लक्षण काल व्यवहार काल है।<sup>५९</sup>

### काल का स्वरूप :

जैन दर्शन में काल अमूर्त है तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित मान्य है। वह अगुरुलघु गुण युक्त होता है। उसका प्रमुख लक्षण वर्तना है।<sup>६०</sup> यह अप्रदेशी किंवा एक प्रदेशी होता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक पृथक् कालाणु की सत्ता है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है, उसके प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भाँति काल द्रव्य के एक-एक कालाणु अवस्थित हैं।<sup>६१</sup> ये भी आकाश प्रदेशों की भाँति असंख्यात हैं, किन्तु व्यवहार नय से अनन्त पर्यायों की वर्तना में निमित्त होने से यह काल अनन्त भी कहा जाता है।<sup>६२</sup> इन कालाणुओं में स्निग्ध एवं रुक्ष गुण का अभाव होने से इनका प्रदेश प्रचय अथवा संचय नहीं बन पाता है। इसीलिए काल द्रव्य का कायत्व अथवा अस्तिकायत्व मान्य नहीं है।<sup>६३</sup> ये कालाणु निरंश एवं निष्क्रिय होते हैं। काल अनन्त समयस्वरूप होता है। तत्त्वार्थसूत्र में 'सोऽनन्तसमयः'<sup>६४</sup> सूत्र के द्वारा इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'समय' काल की सूक्ष्मतम इकाई है, जिसे एक सेकण्ड का भी असंख्यातवाँ भाग कहा जा सकता

है। क्योंकि गणित के आधार पर एक सेकण्ड में ५८२५ आवलिकाएँ बीत जाती हैं एवं आवलिका में असंख्यात समय होते हैं।<sup>६५</sup> दूसरी ओर एक मुहूर्त (४८ मिनट) में एक करोड़ सड़सठ लाख सत्तहत्तर हजार दो सौ सौलह आवलिकाएँ होती हैं।<sup>६६</sup> वर्तमान एक समय का होता है तथा अतीत एवं अनागत अनन्त होता है।<sup>६७</sup> पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति में प्रश्न उठाया गया है कि जितने काल में आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल को समय कहते हैं तो एक समय में परमाणु चौदह रज्जु लोक तक गमन करे तो क्या जितने आकाश प्रदेश हैं, उतने ही समय मानने चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि आगम में जो परमाणु की एक समय में एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में गमन की बात कही गई है वह मन्दगति से कही गई है तथा एक समय में परमाणु का चौदह रज्जु गमन शीघ्र गति की अपेक्षा से है।<sup>६८</sup> विद्यानन्द सूरि ने पर्याय से एवं व्यवहार से काल को अनन्त समयक माना है तथा द्रव्य से एवं परमार्थतः उसे लोकाकाश प्रदेश परिमाणक स्वीकार किया है-

**सोऽनन्तसमयः प्रोक्तो भावतो व्यवहारतश्च।**

**द्रव्यतो जगदाकाशप्रदेशपरिमाणकः।।<sup>६९</sup>**

पर्याय से काल अनन्त समय वाला है क्योंकि वह अनन्त पर्यायों की वर्तना का हेतु है। एक-एक कालाणु शक्तिभेद से प्रतिक्षण अनन्त पर्यायों का वर्तन करता है। अनन्त शक्ति सम्पन्न काल व्यवहार से अनन्त समय वाला है। द्रव्य से वह लोकाकाश प्रदेश परिमाणक होने से असंख्येय ही होता है, आकाशादि के समान वह एक नहीं होता और न ही अनन्त होता है।<sup>७०</sup>

**काल का अनस्तिकायत्व :**

यहाँ पर यह भी स्पष्टतः जान लेना आवश्यक है कि अस्तिकाय और द्रव्य ये दोनों भिन्न पारिभाषिक शब्द हैं। 'अस्तिकाय' में 'अस्ति' शब्द त्रिकालवाची निपात है तथा 'काय' शब्द प्रदेशों के समूह का द्योतक है।<sup>७१</sup> अर्थात् जो प्रदेश समूह कालत्रय में एक साथ रहते हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं। 'अस्ति' शब्द का प्रदेश अर्थ भी किया जाता है। अतः प्रदेशों का समूह अस्तिकाय कहलाता है।<sup>७२</sup> काल में प्रदेश प्रचय नहीं होता। प्रदेश प्रचय के अभाव में उसे अनस्तिकाय स्वीकार किया जाता है।

अस्तिकाय एवं द्रव्य में क्या भेद है, यह व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र से स्पष्ट होता है। वहाँ गौतम गणधर का भगवान् महावीर के साथ जो संवाद हुआ<sup>७३</sup> उससे विदित होता है कि धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय नहीं होता। उसके दो, चार, पाँच,

२० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

छह, सात, आठ, नव, दश, संख्यात एवं असंख्यात प्रदेश भी धर्मास्तिकाय नहीं होते। धर्मास्तिकाय का अखण्ड ग्रहण होने पर ही उसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है। एक प्रदेश भी न्यून होने पर उसे धर्मास्तिकाय कहना सम्भव नहीं। जब धर्मास्तिकाय के समस्त असंख्यात प्रदेश निरवशेष रूप से गृहीत होते हैं तभी उसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है। धर्मास्तिकाय के समान ही अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का भी अखण्ड रूप स्वीकार किया जाता है। अस्तिकाय एवं द्रव्य का भेद पुद्गल और जीव में पूर्णतः स्पष्ट होता है क्योंकि वे द्रव्य से अनन्त हैं एवं अस्तिकाय से एक-एक हैं। जब पुद्गलास्तिकाय शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसमें समस्त पुद्गलों का समावेश हो जाता है, किन्तु द्रव्य की दृष्टि से पुद्गल अनन्त हैं। स्कन्ध, देश एवं प्रदेश भी पुद्गल द्रव्य हैं। पुस्तक, भवन, लेखनी, कुर्सी आदि पुद्गल द्रव्य हैं, किन्तु अस्तिकाय नहीं। इसी प्रकार अनन्त जीव अनन्त द्रव्य तो हैं, किन्तु सब मिलाकर एक जीवास्तिकाय हैं। अस्तिकाय और द्रव्य में यह सूक्ष्म भेद व्याख्याप्रज्ञप्ति में वर्णित है। काल द्रव्य तो है, किन्तु अस्तिकाय नहीं, क्योंकि उसका कोई स्वरूप नहीं बनता है।

**काल के प्रकार :**

स्थानाङ्गसूत्र, षट्खण्डागम, नियमसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में काल के प्रकारों का निरूपण है। काल के परमार्थ एवं व्यवहार भेद प्रसिद्ध हैं।<sup>७४</sup> इन्हें निश्चिय एवं व्यवहार भी कहा जाता है। काल के मुख्यतः तीन प्रकार हैं-अतीत, अनागत और वर्तमान।<sup>७५</sup> ये व्यवहारकाल के ही भेद हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से काल चार प्रकार का है। गुणस्थिति, भवस्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, उपपाद और भावस्थिति की अपेक्षा से काल के छह प्रकार हैं।<sup>७६</sup>

विशेषावश्यकभाष्य और लोकप्रकाश में निक्षेप की अपेक्षा से काल के ११ प्रकार निरूपित हैं,<sup>७७</sup> यथा-१. नामकाल, २. स्थापनाकाल, ३. द्रव्यकाल, ४. अदृक्काल, ५. यथायुष्काल, ६. उपक्रमकाल, ७. देशकाल, ८. कालकाल, ९. प्रमाणकाल, १०. वर्णकाल और ११. भावकाल।

किसी का 'काल' नाम रखना नामकाल है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में काल का गुण-अवगुण रहित आरोपण करना स्थापना काल है। जैसे रेतघड़ी की रेत के एक खण्ड से दूसरे खण्ड में आने की अवधि में मुहूर्त या घण्टे की स्थापना करना स्थापना काल है। सचेतन और अचेतन द्रव्यों की स्थिति

ही द्रव्यकाल है। यह सादि-सान्त, सादि अनन्त, अनादि- सान्त एवं अनादि अनन्त के भेद से चार प्रकार का है। चौथा अद्वाकाल है। यह अढ़ाईद्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड एवं अर्द्ध पुष्करद्वीप) क्षेत्र में सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों-नक्षत्रों की गतिक्रिया से उत्पन्न होता है।

**सूर्यादिक्रियया व्यक्तीकृतो नृक्षेत्रगोचरः।  
गोदोहादिक्रिया निर्व्यपेक्षोऽद्वाकाल उच्यते।।<sup>५८</sup>**

अद्वाकाल के ही भेद हैं- समय, आवलिका, मुहूर्त आदि। यह अद्वाकाल जब जीवों के आयुष्य मात्र का कथन करता है, तो उसे यथायुष्ककाल कहा जाता है।<sup>५९</sup> नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव जितने आयुष्कर्म का उपार्जन कर उसका जीवनकाल में अनुभव करते हैं, वह यथायुष्ककाल है। उपक्रमकाल सामाचारी उपक्रम और यथायुष्क उपक्रम के भेद से दो प्रकार का होता है। इसमें कर्मपुद्गलों को अपने उदयकाल से पूर्व उदय में लाकर भोगा जाता है। विशिष्ट स्थिति से युक्त क्षेत्र से काल का बोध करना देशकाल है। मरण का समय 'कालकाल' है। काल का निश्चित माप निर्धारित कर गणना करना प्रमाणकाल है। यह अद्वाकाल का भी भेद है।<sup>६०</sup> स्थानाङ्गसूत्र की टीका में स्पष्ट किया गया है कि जिससे सौ वर्ष, पल्योपम आदि प्रमाण मापा जाता है वह प्रमाण काल है।<sup>६१</sup> श्यामवर्ण को वर्णकाल माना गया है तथा औदयिकादि पाँच भावों की सादि, सान्त आदि विभागों के साथ जो स्थिति बनती है उसे 'भावकाल' कहा गया है।

**पुद्गल परावर्तन :**

इस विषय के विवेचन से सम्बद्ध दो पाण्डुलिपियों का अवलोकन किया गया है।<sup>६२</sup> पुद्गल परावर्तन विचार विषयक पाण्डुलिपि से स्पष्ट होता है कि काल को मापने की यह सबसे बड़ी इकाई है, जिसमें अनन्त उत्सर्पिणी एवं अनन्त अवसर्पिणी युक्त कालचक्रों का अन्तर्भाव हो जाता है।

जैन दर्शन में व्यवहार काल को संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से समझा जाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त, अहोरात्र, ऋतु, अयन, संवत्सर से लेकर शीर्ष प्रहेलिका (१९४ अंक) तक के काल की गणना संख्यात काल में होती है। इसके अनन्तर पल्योपम एवं सागरोपम की अवधारणा दी गई है। पल्योपम एवं सागरोपम को उपमा से समझाया गया है। उसे अंकों से वर्षगणना करके समझाना सम्भव नहीं है। एक ऐसा पल्य जो एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा एवं एक योजन गहरा

हो, उसे एक से सात दिन वाले नवजात शिशु के बालों के टुकड़े कर उनसे ठसाठस भर दिया जाए। उस पर से हाथी, घोड़े फिरा दिए जाएँ, सौ वर्ष में एक बाल निकाला जाए और इस विधि से जितने काल में वह पल्य खाली हो उसे पल्योपम कहा जाता है। दस कोटाकोटि पल्योपम का एक सागरोपम होता है। काल की गणना में पृथ्वीकाल शब्द का भी प्रयोग होता है, जो इस तथ्य का द्योतक है कि पृथ्वीकाय के जीव अधिकतम कितने समय तक पृथ्वीकाय में रह सकते हैं। इसे असंख्यात, उत्सर्पिणी एवं असंख्यात अवसर्पिणी जितना सूक्ष्मकाल माना गया है।

पुद्गल परावर्तन अनन्तकाल का द्योतक है। पुद्गल परावर्तन से आशय है संसार के समस्त पुद्गलों को शरीरादि के रूप में ग्रहण कर छोड़ देने का जब एक चक्र पूर्ण हो जाए तो उसे एक पुद्गल परावर्तन कहते हैं। एक पुद्गल परावर्तन में अनन्त अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल व्यतीत होता है। पुद्गल परावर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के भेद से चार प्रकार का है तथा इन चारों के बादर एवं सूक्ष्म-भेद करने पर यह पुद्गल परावर्तन आठ प्रकार का हो जाता है।

आठ प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ निरूपित हैं- (१) औदारिक वर्गणा, (२) वैक्रिय वर्गणा, (३) आहारक वर्गणा, (४) तैजस वर्गणा, (५) भाषा वर्गणा, (६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा, (७) मनोवर्गणा और (८) कार्मण वर्गणा।

समानजातीय पुद्गल समूह को वर्गणा कहते हैं। इनमें आहारक वर्गणा का पुद्गल परावर्तन सम्भव नहीं है क्योंकि किसी भी जीव को आहारक शरीर चार वार से अधिक प्राप्त नहीं होता।<sup>८३</sup> इसलिए शेष सात वर्गणाओं को आधार बताकर कहा गया है कि जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्गल कहते हैं और जितने काल में समस्त पुद्गल परमाणुओं को किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने परावर्तन काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहते हैं। यह द्रव्य पुद्गल परावर्तन है।

एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को जब बिना क्रम स्पर्श कर लेता है तो उसे बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहते हैं तथा जब वह क्रम से उनका स्पर्श करता है, तो उसे सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहा जाता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल के प्रत्येक में बिना क्रम से मरण को प्राप्त होने पर बादर काल पुद्गल परावर्तन होता है एवं क्रम से ऐसा करने पर सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन कहा जाता है। जब जीव समस्त अनुभाग बंध के स्थानों को बिना

क्रम के स्पर्श कर लेता है, तो उसे बादर भाव पुद्गल परावर्तन कहते हैं एवं क्रम से स्पर्श करने पर सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्तन कहलाता है। औदारिक पुद्गल परावर्तन का अभिप्राय है संसार की समस्त पुद्गल वर्गणाओं को औदारिक के रूप में परिणत करके छोड़ देने पर उसमें लगने वाला काल। इसी प्रकार वैक्रिय आदि अन्य पुद्गल परावर्तन को समझना चाहिए। औदारिक आदि सात पुद्गल परावर्तनों में सबसे अनन्त काल लगता है, तथापि कार्मण पुद्गल परावर्तन में सबसे कम काल लगता है एवं वैक्रिय पुद्गल परावर्तन में सबसे अधिका<sup>८४</sup>

**सन्दर्भ :**

१. (१) सन्मतितर्कप्रकरण ३. ५२ पर अभयदेवसूरि कृत टीका, गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद, संवत् १९८०, पृ० ७११
- (२) आचारांग पर शीलाङ्क टीका, १.१.१.३, श्री सिद्ध साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, १९३५
- (३) शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तबक २, श्लोक ५४, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, बम्बई
- (४) महाभारत आदिपर्व, प्रथम अध्याय, श्लोक २४८ एवं २५० की प्रथम पंक्तियाँ, गीताप्रेस, गोरखपुर, चतु० संस्क०, १९८८
२. (१) अथर्ववेद, काण्ड १९, अध्याय ६, सूक्त ५३, मंत्र १०, हरियाणा साहित्य संस्थान, रोहतक, वि०सं० २०४३
- (२) अथर्ववेद, काण्ड १९, अध्याय ६, सूक्त ५४, मंत्र १, पूर्वोक्त
३. कालश्च नारायणः। - नारायणोपनिषद्, २, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, २००२
४. शिवपुराण, वायुसंहिता (पूर्व भाग), श्लोक १६, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस-दिल्ली, १९७३
५. श्री विष्णुपुराण, प्रथम भाग, प्रथम अंश, सृष्टिप्रक्रिया, पृ० ९, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५६
६. भगवद्गीता, ११.३२, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९८७
७. श्वेताश्वतरोपनिषद्, प्रथम अध्याय, श्लोक २, भारतीय विद्या प्रकाशन. वाराणसी-दिल्ली, २००२
८. वैशेषिक सूत्र, अ०१, प्रथम आह्निक, सूत्र ५, गुजराती मुद्रणालय,

२४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

गुजरात, वि० सं० १९६२

९. (१) अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि - अध्याय २, आ० २, सूत्र ६, वैशेषिक सूत्र, पूर्वोक्त  
(२) कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् । - प्रशस्तपादभाष्य, द्रव्यनिरूपण, पूर्वोक्त
१०. तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः- प्रशस्तपादभाष्य, पूर्वोक्त, पृष्ठ १५५
११. वैशेषिक सूत्र, ५.२.२६, पूर्वोक्त
१२. न्यायसूत्र, १.१.१६, पूर्वोक्त
१३. दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः- २.१.२३, न्यायसूत्र, पूर्वोक्त
१४. दिक्कालावाकाशादिभ्यः- सूत्र १२, द्वितीय अध्याय, सांख्यप्रवचनभाष्य
१५. सांख्यकारिका में ९ तुष्टियों में चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं- प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य। इनके अतिरिक्त पाँच तुष्टियाँ शब्दादि पाँच बाह्य विषयों से विरत होने पर प्राप्त होती हैं।
१६. योगभाष्य, योगसूत्र, ३.५२ पर, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९९७
१७. योगवार्तिक, योगसूत्र, ३.५२ पर, पूर्वोक्त
१८. नास्माकं वैशेषिकादिवदप्रत्यक्षः कालः, किन्तु प्रत्यक्ष एव, अस्मिन्क्षणे मयोपलब्ध इत्यनुभवात् ! अरूपस्याप्याकाशवत् प्रत्यक्षत्वं भविष्यति। शास्त्रदीपिका (युक्तिस्नेहप्रपूर्णीसिद्धान्त चन्द्रिकाटीका)- अ.५, पाद १, अधि ५ सूत्र ५, दर्शन अने चिन्तन, पृ० १०२७ पर उद्धृत
१९. अतीन्द्रियत्वेन कर्मानुमेयत्वेन च- प्रस्थानरत्नाकर, पृ० २०२
२०. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश कारिका २ पद हेलाराजकृत प्रकाशव्याख्या
२१. तत्त्वार्थसूत्र, ५.३८, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९९३
२२. (क) धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुगलजंतवो  
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसीहिं।- २८.७, उत्तराध्ययन सूत्र  
(ख) दण्वणामे दण्वहे पण्णत्ते, तंजहा- धम्मत्थिकाए, अधर्मात्थिकाए,

आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए, अद्दासमए य

—२१८, अनुयोगद्वारसूत्र, पद्म प्रकाशन, दिल्ली

(ग) गोयमा! छव्विहा दव्वा पण्णत्ता तंजहा- धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए  
पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्दासमए या - व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

२३. “किमियं भंते! लोयत्ति पवुच्चइ? गोयमा पंचत्थिकाया।”

—१३.४.४८१, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर,  
(राज०), १९८३

२४. अन्यत्र भी उल्लेख प्राप्त होता है। द्रष्टव्य, पण्डित सुखलाल संघवी,  
‘दर्शन और चिन्तन’, पं० सुखलाल सन्मान समिति, अहमदाबाद, १९५३  
पृ० ३३१

२५. उद्धृत, लोकप्रकाश (मुम्बई से प्रकाशित), चतुर्थ भाग, पृ० ३

२६. स्थानाङ्गसूत्र, स्थान २, उद्देशक ४, उद्धृत, लोकप्रकाश, चतुर्थभाग,

२७. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, २०-२६

२८. न हि जीवादिवस्तुव्यतिरिक्तः कश्चित् कालो नाम पदार्थविशेषः परिकल्पितः  
एकः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।- धर्मसंग्रहणि, गाथा ३२ पर टीका

२९. वही, गाथा ३२ पर टीका

३०. वही, गाथा ३२ पर टीका

३१. लोकप्रकाश, २८.१३-१५ एवं २९.१६-१७

३२. द्रष्टव्य, उपर्युक्त पाद टिप्पण, २२

३३. तत्त्वार्थसूत्र, ५-३७, पूर्वोक्त

३४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.३९, २-३, आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला,  
शोलापुर, १९५१

३५. वही, ५.४०.२

३६. धर्मसंग्रहणि, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका, गाथा ३२ पर टीका, पृ० ३८

३७. लोकप्रकाश, २८.१६, श्री जिनाज्ञा प्रकाशन, वापी (गुज०), वि०सं० २०६२

३८. वही, २८.२१,

३९. वही, २८.२५

२६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

४०. वही, २८.४८
४१. वही, २८.४९-५०
४२. वही, २८.५३-५४
४३. वही, २८.२०
४४. तत्त्वार्थवार्तिक, ५.२२, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, १९५५
४५. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्या-तत्त्वार्थसूत्र, ५.२२, पूर्वोक्त
४६. तत्त्वार्थभाष्य, ५.२२, सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, बम्बई १९३२
४७. सर्वार्थसिद्धि, ५.२२, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृ० २२२
४८. तत्त्वार्थभाष्य, ५.२२, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, पृ०-२६७
४९. लोकप्रकाश, २८.५८, पूर्वोक्त
५०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, ५.२२ षष्ठ भाग, पृ० १६५
५१. सर्वार्थसिद्धि, ५.२२, पृ० २२२, पूर्वोक्त
५२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग, पृ० १६९
५३. तत्त्वार्थसूत्र, ५.४१, पूर्वोक्त
५४. अनादिरादिमांशु। - तत्त्वार्थसूत्र, ५.४२, पूर्वोक्त
५५. क्रिया गतिः, सा त्रिविधा- प्रयोगगतिः, विस्त्रसागतिः, मिश्रिकेति। - तत्त्वार्थभाष्य, ५.२२, पूर्वोक्त
५६. क्रिया परिस्पन्दात्मिका। सा द्विविधा; प्रायोगिकवैस्त्रसिकभेदात्। तत्र प्रायोगिकी शकटादीनाम्, वैस्त्रसिकी मेघादीनाम्।-सर्वार्थसिद्धि, ५.२२, पृ० २२३, पूर्वोक्त
५७. परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः सम्प्रतीयते  
क्रिया देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदभृत् ॥- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग, पृ० - १९५
५८. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, कारिका २ पर हेलाराजकृत प्रकाश व्याख्या
५९. कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च। परमार्थकालो वर्तना लक्षणः। परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः। सर्वार्थसिद्धि, ५.२२, पृ० २२३, पूर्वोक्त
६०. ववगदपण्णवण्णरसो ववगद दो गंध अट्टफासो य  
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य काला त्ति।। - २४, पंचास्तिकाय

- संग्रह, भारतीय जैन पब्लिकेशन, १९७५
६१. लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो निष्क्रियाः एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकं व्याप्य व्यवस्थिताः। उक्तंच- लोगागास पदेसे एकैकके जे द्विया हु एकैकका। रयणाणं रासी विव ते कालाणू मुणेयण्वा।।  
-५८९ गोम्मटसार जीवकाण्ड, एवं द्रव्यसंग्रहवृत्ति, २२
६२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५.४०, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९५३
६३. नियमसार, गाथा ३४, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, वि०नि० २५११
६४. तत्त्वार्थसूत्र, ५.४०, पूर्वोक्त
६५. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज०), १९५७
६६. एगा कोडी सतसट्टि लक्खा सत्तहुत्तरि सहस्सा य  
दो य सया सोलहिया आवलिया इग मुहुत्तम्मि।।- नवतत्त्वप्रकरण, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, वि०सं० १९५४
६७. तत्त्वार्थभाष्य, ५.४०, पूर्वोक्त
६८. पंचास्तिकायसंग्रह तात्पर्य वृत्ति, २५ एवं द्रव्यसंग्रहटीका, २२ (असंख्यात कोटाकोटि योजन का एक रज्जु होता है।)
६९. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.३९, पूर्वोक्त
७०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५.३९ पर वृत्ति
७१. अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना। अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिकायः।- अभयदेवसूरि, अभिधान राजेन्द्र कोश में उद्धृत
७२. अस्तिशब्देन प्रदेशप्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः- वही, अभिधान राजेन्द्रकोश में उद्धृत
७३. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक २, उद्देशक १०, सूत्र ७-८, पूर्वोक्त
७४. द्विविधः कालः परमार्थकालः व्यवहारकालश्चेति।-५.२२, तत्त्वार्थवार्तिक, पूर्वोक्त
७५. (१) स्थानांगसूत्र, तीन स्थान, चतुर्थ उद्देशक, कालसूत्र  
(२) षट्खण्डागम, जीवस्थान १.५.१

२८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

७६. षट्खण्डागम, जीवस्थान, १.५.१
७७. (१) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २०३०-३१, २. लोकप्रकाश, २८.९३.९१
७८. लोकप्रकाश, २८, १०५, पूर्वोक्त
७९. विशेषावश्यकभाष्य गाथा २०३८ तथा लोकप्रकाश, २८.११०
८०. लोकप्रकाश, २८.१९२, पूर्वोक्त
८१. स्थानाङ्गटीका, गणितानुयोग, पृ० ६९२ पर उद्धृत
८२. (१) पुद्गल परावर्तनविचार, २४ पन्ने, लेखक का उल्लेख नहीं  
(२) पुद्गल परावर्तन, १ पन्ना
८३. प्रज्ञापनासूत्र, समुद्धातपद, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज०)
८४. उपर्युक्त पाण्डुलिपियाँ, पंचकर्मग्रन्थ, गाथा ८६-८८, लोकप्रकाश, सर्ग  
३५ एवं प्रवचनसारोद्धार, द्वार १६२, गाथा १०४६-१०५०

\*\*\*

## वैदिक एवं जैन परम्परा में द्रौपदी कथानक : उद्भव एवं विकास

डॉ० शीला सिंह

जैन परम्परा में वैदिक ऋषियों, सीता, द्रौपदी आदि नारियों तथा कृष्ण, राम आदि महापुरुषों के जैनपरम्परानुमोदित चरित्र जो पुराणों और काव्यों में मिलते हैं। जैनागम ग्रन्थों में भी उनके कथानक सूत्ररूप में प्राप्त होते हैं। उनमें द्रौपदी का चरित्र उभय-परम्परा में किस प्रकार प्राप्त होता है। इसका तुलनात्मक विवेचन विदुषी ने इस आलेख में किया है। इसका शोध-प्रबन्ध भी पार्श्वनाथ विद्यापीठ शीघ्र प्रकाशित कर रहा है।

—सम्पादक

### वैदिक परम्परा

द्रौपदी से सम्बद्ध कथानक वैदिक संहिताओं, वेदाङ्गों और उपनिषदों में साक्षात् उपलब्ध नहीं होते। यद्यपि वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में 'महाभारत' के वंश, स्थान एवं कुछ प्रमुख चरितनायकों के नाम अवश्य मिलते हैं परन्तु उनसे द्रौपदी के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती। सर्वप्रथम द्रौपदी का प्रसङ्ग आर्षकाव्यों; विशेषकर 'महाभारत' में ही उपलब्ध होता है और यहीं द्रौपदी-कथा अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखाई देती है।

आर्षकाव्य 'महाभारत' में द्रौपदी का विवेचन व्यवस्थित रूप में मिलता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि वर्तमान 'महाभारत' महाकाव्य का भी विकास— 'भारत', 'जयभारत' और 'महाभारत' के रूप में— तीन चरणों में हुआ है। अतः उसमें द्रौपदी-कथा का विकास-क्रम, पूर्ण रूप से विवेचित करना सम्भव नहीं है। 'महाभारत' में द्रौपदी के जन्म से लेकर परलोक-गमन तक की कथा पूर्ण विस्तार के साथ चित्रित है। द्रौपदी का प्राकट्य महर्षि याज्ञ द्वारा सम्पादित यज्ञकुण्ड से हुआ था। विवाह योग्य होने पर स्वयंवर द्वारा पाण्डु-पुत्र 'अर्जुन' का वह वरण करती है; किन्तु विशेष परिस्थितिवश उसका विवाह पाँचों पाण्डु-पुत्रों के साथ सम्पन्न हो जाता है, इस घटना के मूल में उसके पूर्वजन्म में भगवान् शिव द्वारा दिया गया वरदान है।

कालान्तर में कौरवों के षड्यन्त्र के शिकार ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर, द्यूतक्रीड़ा में सर्वस्व सहित पत्नी को भी हार जाते हैं। कौरवों द्वारा सभाभवन में बलात् लायी हुई

द्रौपदी विभिन्न प्रकार से अपमानित की जाती है। यहाँ तक कि चीरहरण जैसा कुकृत्य भी किया जाता है। पराजित पाण्डवों के साथ वह भी वनगमन करती है। वनवास में वह युधिष्ठिर आदि को समय-समय पर कर्तव्यबोध कराती रहती है। अज्ञातवास की अवधि में वह विराटनगर की महारानी सुदेष्णा की दासी (सैरन्धी) के रूप में राजमहल में सेवारत रहती है और वहाँ उससे बलात् प्रणय की इच्छा रखने वाले कीचक का भीम द्वारा वध होता है। द्रौपदी के अपमान के प्रतिशोध हेतु 'महाभारत' का महान् युद्ध होता है। इसमें विजयी पाण्डव राज्य प्राप्त करते हैं एवं द्रौपदी महारानी के पद पर आसीन होती है। कालान्तर में नाना सुखों को भोगती हुई वह पतियों के साथ स्वर्गलोक को प्रस्थान करती है। 'महाभारत' के 'आदिपर्व' से 'स्वर्गारोहण पर्व' तक प्रायः सभी पर्वों में द्रौपदी का प्रसङ्ग मिलता है।

'महाभारत' के पश्चात् कुछ पुराणों में द्रौपदी का उल्लेख हुआ है। 'भागवतपुराण'<sup>३</sup> में कृष्ण की महत्ता का प्रतिपादन करने के प्रसङ्ग में द्रौपदी-कथा मिलती है। इसमें महाप्रस्थान के समय पापवश मार्ग में भूमि पर गिर पड़ी द्रौपदी द्वारा कृष्ण का स्मरण करना एवं तत्पश्चात् स्वर्गलोक जाना वर्णित है। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'<sup>३</sup> में द्रौपदी को और अधिक दैवीय रूप प्रदान करने के लिए उसे पूर्वजन्म की सीता कहा गया है। 'मार्कण्डेय पुराण'<sup>४</sup> में भी द्रौपदीचरित को उभारने के लिए उसको मात्र एक ही इन्द्र की पत्नी बताया गया है, जो पाँच देवताओं के अंश से उत्पन्न हुए थे।

आर्षकाव्यों के पश्चात् सर्वप्रथम षष्ठ शती के लगभग भारवि रचित 'किरातार्जुनीय'<sup>५</sup> में द्रौपदी का वर्णन मिलता है। इस महाकाव्य में द्रौपदी का अपेक्षाकृत अधिक ओजस्वी स्वरूप चित्रित हुआ है। यहाँ वह एक राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ के रूप में उभरकर आती है।

अष्टम शताब्दी की भट्टनारायण की कृति 'वेणीसंहार'<sup>६</sup> में वह एक अपमानित, दुःखी नारी के रूप में चित्रित है, जो प्रतिशोध के लिए व्यग्र है। इसके साथ ही उसमें भीम के प्रति अतिशय प्रेम के दर्शन होते हैं। वह भीम की मृत्यु जानकर प्रलाप करती है और स्वयं जल जाने हेतु चिता तैयार करने का आदेश देती है। राजशेखर (८८०-९२० ई०) की अपूर्ण कृति 'बालभारत'<sup>७</sup>, क्षेमेन्द्र (१०२५-१०६६ ई०) रचित 'भारतमञ्जरी'<sup>८</sup>, वासुदेवकृत (१२वीं शती) 'युधिष्ठिरविजय'<sup>९</sup> एवं अनन्तभट्ट विरचित (१५वीं शताब्दी) 'भारतचम्पू'<sup>१०</sup> में मिलने वाली द्रौपदी कथा 'महाभारत' के ही समान है।

## जैन परम्परा

जैन-परम्परा में आगमों में द्रौपदी-वृत्तान्त सूत्र रूप में एवं विस्तार से भी प्राप्त होते हैं। जैन-परम्परा में आगमों का वही स्थान है, जो वैदिक परम्परा में वेदों का है। जैन

वैदिक एवं जैन परम्परा में द्रौपदी कथानक : उद्भव एवं विकास : ३१

आगमों में द्रौपदी का उल्लेख सर्वप्रथम 'स्थानाङ्गसूत्र'<sup>११</sup> में दस आश्चर्यों के वर्णन-क्रम में पाँचवें आश्चर्य 'कृष्ण के अमरकङ्का गमन' के रूप में मिलता है। कृष्ण, अमरकङ्का के राजा पद्मनाभ द्वारा अपहृत द्रौपदी को मुक्त कराने वहाँ जाते हैं। द्रौपदी सम्बन्धी यह घटना 'महाभारत' में प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि 'स्थानाङ्गसूत्र' में सर्वप्रथम द्रौपदी-कथा का सङ्केत मिलता है, तथापि द्रौपदी-कथा का विस्तृत रूप हमें 'ज्ञाताधर्मकथा'<sup>१२</sup> में मिलता है। इसमें उपलब्ध द्रौपदी कथा, वैदिक परम्परा की द्रौपदी कथा से पर्याप्त भिन्न है। यहाँ द्रौपदी के पूर्वभवों की कथा को प्रमुख स्थान दिया गया है तथा दिखाया गया है कि एक जन्म में कृत पापों या पुण्यों का फल अन्य जन्मों में भी भोगना पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञाताधर्मकथा' में 'कृष्ण के अमरकङ्का गमन' सम्बन्धी पाँचवें आश्चर्य के वर्णन-प्रसङ्ग में द्रौपदी का अमरकङ्का के राजा पद्मनाभ द्वारा हरण आदि वृत्तान्त विस्तार से वर्णित है।

'प्रश्रव्याकरणसूत्र'<sup>१३</sup> नामक अङ्ग आगम में प्रतिपादित पाँच संवरों में एक 'ब्रह्मचर्य' की महत्ता को बताने के लिए स्त्री-विषयक आसक्ति एवं कामाचार के फलस्वरूप होने वाले युद्धों के वर्णन में द्रौपदी का नामोल्लेख हुआ है। यह उल्लेख 'ज्ञाताधर्मकथा' में वर्णित वृत्तान्त-द्रौपदी का हरण करने वाले पद्मनाभ एवं कृष्ण सहित पाण्डवों के मध्य अमरकङ्का में होने वाले युद्ध का ही सङ्केत करता है।

'कल्पसूत्र'<sup>१४</sup> में पाँचवें आश्चर्यक 'कृष्ण का अमरकङ्का गमन' वर्णित है। इस सूचना से भी पद्मनाभ द्वारा द्रौपदी-हरण की घटना का पता चलता है।

जिनसेनकृत 'हरिवंशपुराण'<sup>१५</sup> (७८३ ई०) में प्राप्त द्रौपदी-कथा वैदिक एवं जैन परम्पराओं का मिश्रित रूप है। इसमें आचार्य जिनसेन ने 'ज्ञाताधर्मकथा' में प्राप्त द्रौपदी के पूर्वभव की कथा को भी अपनी कल्पनाशक्ति से परिवर्तित किया है और वर्तमानभव की कथा को 'महाभारत' से ग्रहण कर उसे जैन परिवेश प्रदान किया है। इसमें द्रौपदी सम्बन्धी द्यूत-क्रीड़ा, वनवास, अज्ञातवास आदि वृत्तान्त; जिनका 'ज्ञाताधर्मकथा' में सर्वथा अभाव है, वर्णित हैं। इस प्रकार 'हरिवंशपुराण' में द्रौपदी-कथा का पूर्ण विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। 'हरिवंशपुराण' और धनञ्जय (८वीं शती) की रचना 'द्विसन्धानकाव्य'<sup>१६</sup> में कीचक वृत्तान्त भिन्न रूप में प्राप्त होता है। इसमें कीचक की भीम के हाथों मृत्यु नहीं होती बल्कि भीम से पराजित कीचक द्वारा तपस्या करने का उल्लेख मिलता है।

गुणभद्र 'उत्तर-पुराण'<sup>१७</sup> (महापुराण) (८४८-८५० ई०) में भी द्रौपदी-कथा अपने सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध होती है तथा 'हरिवंशपुराण' से समानता रखती है। इस ग्रन्थ

३२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

में द्रौपदी का पूर्वभव 'ज्ञाताधर्मकथा' के ही सदृश है, किन्तु इसमें द्रौपदी के साथ पाँचों पाण्डवों का भी पूर्वभव बताया गया है, जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इसके अनुसार नागश्री ब्राह्मणी का पूरा कुटुम्ब कालान्तर में द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों के रूप में जन्म लेता है।

आचार्य हरिषेण ने 'वृहत्कथाकोश'<sup>१८</sup> (लगभग ८९८ ई०) में कथा का आधार महाकाव्य 'महाभारत' को ही बनाया है और जैन परम्परागत द्रौपदी के पूर्वभव एवं पद्मनाभ द्वारा हरण की कथा का उल्लेख नहीं किया है। इस कथाकोश में द्रौपदी के स्वयंवर-शर्त के रूप में निश्चित लक्ष्य-सम्बन्धी वर्णन पृथक्ता लिये हुए है। नेमिचन्द्रसूरि कृत 'आख्यानक-मणिकोश'<sup>१९</sup> (१०७२ ई०) में द्रौपदी की कथा में उसके पूर्वभवों तथा पद्मनाभ-हरण का संक्षिप्त वर्णन है।

१२वीं शती के द्वितीय और तृतीय चरण में रामचन्द्रसूरि रचित 'निर्भयभीम व्यायोग'<sup>२०</sup> में 'महाभारत' के ही वृत्तान्त को आधार बनाया गया है। इसमें द्रौपदी सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध होते हैं, वे वैदिक परम्परा में प्राप्त द्रौपदी के ओजस्वी एवं वीर चरित के अनुरूप नहीं हैं। वहाँ वह एक सामान्य नारी के रूप में ही चित्रित है।

लगभग इसी काल में (१११३ ई०) रचित हेमचन्द्रसूरि की कृति 'भवभावना'<sup>२१</sup> एवं हेमचन्द्राचार्य रचित 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित'<sup>२२</sup> (सन् ११५९-११७१ ई०) में द्रौपदी के पद्मनाभ-हरण का ही वर्णन आया है।

सन् ११९५ ई० में मुनिरत्नसूरिकृत 'अममस्वामिचरित'<sup>२३</sup> में द्रौपदी की सम्पूर्ण कथा प्राप्त होती है। द्रौपदी-स्वयंवर एवं द्रौपदी-पूर्वभव का आधार तो 'ज्ञाताधर्मकथा' ही है, किन्तु तत्पश्चात् आने वाली 'घृतक्रीड़ा' प्रचलित परम्परानुसार ही है। इस ग्रन्थ के अनुसार पाण्डव वनवास का समय 'द्वारिका' में व्यतीत करते हैं। इसमें अज्ञातवास के वृत्तान्त का पूर्णतया अभाव है। अमरकङ्का-वर्णन भी अन्य ग्रन्थों के समान है।

अमरचन्द्रसूरि विरचित 'बालभारत'<sup>२४</sup> (१२२०-१२३७ ई०) नामक महाकाव्य 'महाभारत' का संक्षेपीकरण मात्र है। लगभग इसी काल (१२२०-१२३३ ई०) में देवप्रभसूरि ने 'पाण्डवचरित'<sup>२५</sup> नामक महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य में कवि ने पाण्डवों की जो कथा लिखी, वह 'ज्ञाताधर्मकथा' एवं 'महाभारत' दोनों से समानता रखती है। 'महाभारत' के अनेक वनवास वृत्तान्तों का इसमें कवि ने कुछ परिवर्तन के साथ विस्तृत वर्णन किया है।

वैदिक एवं जैन परम्परा में द्रौपदी कथानक : उद्भव एवं विकास : ३३

द्रौपदी को आधार बनाकर एकमात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ 'द्रौपदी स्वयंवर'<sup>१६</sup> की रचना, विजयपाल (सन् ११९४-१२४३) ने की। इस नाटक में द्रौपदी के स्वयंवर सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। ये उल्लेख वैदिक एवं जैन दोनों ही परम्पराओं से भिन्न नाटककार की मौलिक कल्पना के परिणाम हैं।

देवेन्द्रसूरि (१३वीं शताब्दी) विरचित 'कृष्णचरित'<sup>१७</sup> में द्रौपदी का पूर्वभव एवं पद्मनाभ-प्रसङ्ग वर्णित है, किन्तु द्रौपदी विवाह, वनवास आदि की भी सूचना मिलती है।

सन् १४१९-१४३२ ई० के मध्य कवि मण्डन मंत्री द्वारा विरचित 'काव्य मण्डन'<sup>१८</sup> में द्रौपदी-विवाह के विषय में मिलने वाली सूचना पूर्णरूपेण महाभारत पर आधारित है। स्वयंवर-शर्त एवं माता कुन्ती की आज्ञानुसार द्रौपदी को भिक्षा समझकर दिया गया वक्तव्य 'महाभारत' को आधार बनाकर उल्लिखित है।

शुभचन्द्र रचित 'पाण्डवपुराण'<sup>१९</sup> (१५५१ ई०) में द्रौपदी-कथा विस्तृत रूप में मिलती है। इसकी कथा 'हरिवंशपुराण' और 'पाण्डवचरित' से प्रायः समानता रखती है। इसमें भी द्रौपदी के सतीत्व के प्रतिपादन हेतु उसे एकमात्र अर्जुन की ही पत्नी बताया गया है। इसमें भी द्रौपदी का अपमान पाण्डवों के समक्ष नहीं बताकर, उसके महल में बताया गया है। वनवास, अज्ञातवास, अमरकङ्का-प्रसङ्ग, पूर्वभव आदि वृत्तान्त जैन ग्रन्थों से कुछ भिन्नता लिये हुए वर्णित हैं।

गुणविजयगणि रचित 'नेमिनाथचरित'<sup>२०</sup> (१६११ ई०) में उपलब्ध द्रौपदी-स्वयंवर एवं पूर्वभव की कथा ज्ञाताधर्मकथा से पूर्ण सादृश्य रखती है; किन्तु उससे भिन्न द्यूत-क्रीड़ा एवं वनवास के रूप में द्वारिका-गमन की कथा 'अममस्वामिचरित' के सदृश है। अमरकङ्का वृत्तान्त 'ज्ञाताधर्मकथा' से कुछ भिन्न है।

पञ्चाद्वर्ती कल्पसूत्र-व्याख्या साहित्य में कल्पसूत्र में सूचनारूप में उपलब्ध कृष्ण के अमरकङ्का-गमन की कथा का ही वर्णन किया गया है।

वैदिक एवं जैन-परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध-परम्परा में भी द्रौपदी का उल्लेख मिलता है। वहाँ भी द्रौपदी का विवाह 'महाभारत' के समान ही स्वयंवर-विधि से बताया गया है।<sup>२१</sup> 'कुणाल जातक'<sup>२२</sup> में द्रौपदी से सम्बन्धित यह श्लोक मिलता है —

अथ अज्जुनो नकुलो भीमसेनो युधिष्ठिलो सहदेवो च राजा।  
एते पती पञ्चमत्तिच्च नारी अकासी खुज्ज वामनेनं पापं ॥१॥

उपर्युक्त श्लोक के आधार पर द्रौपदी के पतियों की संख्या तो पाँच ही सिद्ध होती है; किन्तु इस श्लोक से यह सहज अनुमान लग जाता है कि बौद्ध धर्म में 'द्रौपदी' आदर्श चरित के रूप में चित्रित नहीं है, अपितु उसकी चरित्रहीनता प्ररूपित की गयी है। निश्चित रूप से यह बात सर्वथा नवीन है जो अन्य परम्पराओं से पृथक् है। सम्भव है, बौद्ध धर्म में नारी को 'तुच्छ' सिद्ध करने के लिए यह परिवर्तन किया गया हो। जातकों के रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं मिलता। तीसरी-चौथी शताब्दी ई० इसका समय माना जाता है। जातकों के कर्ता आर्यशूर का समय ई० की चतुर्थ शताब्दी के लगभग माना गया है।<sup>३३</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपलब्ध द्रौपदी-कथा के प्रारम्भिक स्रोत आर्षकाव्य 'महाभारत' में ही द्रौपदी की कथा पूर्ण विकसित हो चुकी है। पश्चाद्द्वर्ती साहित्य इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं देता। वैदिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रन्थों ने उसके चरित में कहीं कोई कमी नहीं आने दी है; किन्तु जैन-कवियों ने यथारुचि द्रौपदी-कथा में परिवर्तन किया है। यद्यपि कवि को मूल कथा में यथावसर परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है; यदि ऐसा परिवर्तन पात्र के चरित की दृष्टि से और कथारस की दृष्टि से उपयोगी हो, जैसा कि आचार्य धनञ्जय<sup>३४</sup> ने कहा है —

**यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्थरसस्य वा ।  
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा परिकल्पयेत् ॥**

इस प्रकार जब हम 'महाभारत' में विद्यमान द्रौपदी के चरित से जैन-काव्यों में चित्रित द्रौपदी-स्वरूप की तुलना करते हैं, तो उसमें एक मुख्य विशेषता उभर कर सामने आती है, वह यह कि जैन कवियों ने वैदिक परम्परा के काव्यों में उपलब्ध चरितों का अपने प्रयोजन (हिंसा और असंयम का कुफल प्रदर्शन) की दृष्टि से परिवर्तन किया है। मूल कथा में परिवर्तन की प्रवृत्ति में रस-दृष्टि प्रधान नहीं है और न चरितों के उदात्तीकरण की दृष्टि ही है, मात्र कथा को अपना परिवेश देना ही प्रधान लगता है।

### सन्दर्भ

१. महाभारत, अनु० पं० रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, चतु० संस्क०, १९८८, आदि पर्व-स्वर्गारोहण पर्व
२. भागवतपुराण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १/५/५०, १/२२/२९
३. ब्रह्मवैवर्तपुराण, सम्पा०- जीवानन्द भट्टाचार्य, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०६, २/१५

वैदिक एवं जैन परम्परा में द्रौपदी कथानक : उद्भव एवं विकास : ३५

४. मार्कण्डेयपुराण (प्रथम खण्ड), पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति-संस्थान, बरेली (उ.प्र.), द्वि० संस्क०, १९६९, प्रकरण ४ / श्लोक ३२, ३४, प्रकरण ५ / श्लोक २५, प्रकरण ७/१-६८
५. किरातार्जुनीयम्, भारवि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९९५, सर्ग. १/ २७-४५, सर्ग २/१-२४, सर्ग ३/१७-३०, ३६-५५
६. वेणीसंहारम्, भट्टनारायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९६१
७. बालभारत, राजशेखरसूरि, काव्यमाला-४५, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४
८. भारतमञ्जरी, क्षेमेन्द्र, सम्पा.- पं. शिवदत्त एवं काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८९८, पर्व १, २, ३, ४, ११, १७, १८
९. युधिष्ठिरविजयम्, वासुदेव, काव्यमाला-६०, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं वाराणसी, पुनर्मुद्रण संस्करण, १९८३, आश्वास १, २, ३, ४, ५, ८
१०. चम्पूभारतम्, अनन्तभट्ट, निर्णयसागर प्रेस, प्रथम संस्करण, सन् १९५०, स्तवत २, ३, ४, ५, ६, १२
११. स्थानाङ्गसूत्र, सम्पा० श्रीमधुकर मुनि, जिनागम ग्रन्थमाला-७, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८१, स्थान १० / सूत्र १६०, ७७७
१२. ज्ञातार्थकथा, सम्पा० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८१, अध्ययन १६
१३. प्रश्नव्याकरणसूत्र, सम्पा० मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), १९८३, अध्याय ४, सूत्र १६
१४. कल्पसूत्र, जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम, १९४८
१५. हरिवंशपुराण, जिनसेन, सम्पा० पं. पन्नलाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२, सर्ग ४५ / श्लोक १२०-१५५, सर्ग ४६ / श्लोक २, ५७, सर्ग ४७ / १-१०
१६. द्विसन्धानमहाकाव्य, धनञ्जय, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७०, सर्ग ५२/ ८८-८९, सर्ग ५४/ ३-७४
१७. उत्तरपुराण, आचार्य गुणभद्र, सम्पा० पन्नलाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४, सर्ग ७२ / श्लोक १९८-२७४
१८. बृहत् कथाकोश, हरिषेण, सम्पा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, भारतीय विद्याभवन, १९४३, कथानक ४३ / श्लोक १-९, कथानक

३६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

१९. आख्यानकमणिकोश, नेमिचन्द्रसूरि, सम्पा० मुनिपुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, ग्रन्थाङ्क-५, वाराणसी, १९६२
२०. निर्भयभीमव्यायोग, श्री रामचन्द्रसूरि, सम्पा० डॉ० अशोक कुमार सिंह ग्रन्थमाला- १९, वाराणसी
२१. भवभावना, मल्लधारी हेमचन्द्रसूरि, श्रीमती गंगाबाई जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, बीलेपारले, मुम्बई, १९८५
२२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्, हेमचन्द्र, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९०६-१९१३
२३. अममस्वामिचरित, मुनिरत्नसूरि, पत्र्यासगणि विजय जी गणिवर ग्रन्थमाला, १९४२
२४. बालभारत, अमरचन्द्रसूरि, काव्यमाला-४५, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४
२५. पाण्डवचरित, देवप्रभसूरि, काव्यमाला सिरीज, बम्बई, १९११
२६. द्रौपदी-स्वयंवरम्, विजयपाल, सम्पा० मुनिजिनविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१८
२७. श्रीकृष्णचरितम्, देवेन्द्रसूरि, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३८
२८. काव्यमण्डन, मण्डन मन्त्री, हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली (३), पाटन, १९१९
२९. पाण्डवपुराण, शुभचन्द्राचार्य, जैन संस्कृति संरक्षक-संघ, जीवराज जैन ग्रन्थमाला-३, शोलापुर, पृ० १९५४
३०. नेमिनाथचरित, गुणविजयगणि, जैनआत्मानन्द सभा, भावनगर, १९२३, परिच्छेद ६, ८, ११, १३
३१. 'वूमेन इन बुद्धिज्म लिटरेचर' - वी०सी०लॉ, अध्याय १, पृ० ८
३२. कुणाल जातक, जातक (पञ्चम खण्ड), भदन्त आनन्द कौसल्यायन, विषय ५३६, पृ० ५०८ एवं भरतसिंह उपाध्याय, 'पालि साहित्य का इतिहास', पृ० ३५६
३३. 'बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा', रामायण प्रसाद द्विवेदी, पृ० २६२
३४. दशरूपक, धनञ्जय,

\*\*\*

## जैन दर्शन में प्रमेय का स्वरूप एवं उसकी सिद्धि

डॉ० राहुल कुमार सिंह

भारतीय और पाश्चात्य सभी दर्शनों में 'प्रमेय' का विचार किया गया है। 'प्रमेय' को प्रमाण और प्रमाता से पृथक् माना जाय या नहीं? प्रमेय का एक मानें या अनेक? प्रमेय सामान्यात्मक है या विशेषात्मक या उभयात्मक, इस पर विचार करते हुए लेखक ने जैनदृष्टि से उभयरूप सिद्ध किया है।

- सम्पादक

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी तत्त्वमीमांसीय गवेषणाओं के अनुरूप ही अपनी ज्ञानमीमांसीय विवेचना प्रस्तुत करता है क्योंकि ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा का साधन है। तत्त्वमीमांसा से अवियोज्य होने के कारण ज्ञान को सामान्यतः 'विषय के प्रकाशक' के रूप में ही स्वीकार किया गया है। विषय की यह प्रकाशना ज्ञाता की चेतना में होती है। विषय जिस रूप में ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होता है, विषय का वह रूप, विषय की उपस्थिति की वह क्रिया और स्वयं ज्ञाता मिलकर ज्ञान अथवा बोध की सर्जना करते हैं। इस रूप में यहाँ 'त्रिपुटी ज्ञान' अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का साधन (प्रमाण) की धारणा का जन्म होता है। वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमा की संज्ञा दी गई है। प्रमा चूँकि एक प्रकार का ज्ञान है अतएव यहाँ प्रमा का स्वरूप-निरूपण भी त्रिपुटी ज्ञान के रूप में किया गया है। त्रिपुटी ज्ञान में प्रमा के तीन संघटक तत्त्व हैं— प्रमाता (प्रमा को प्राप्त करने वाला), प्रमेय (प्रमा की विषय-वस्तु) और प्रमाण (प्रमा का साधन)।

प्रस्तुत आलेख का विवेच्य प्रमेय है किन्तु यहाँ प्रसंगवश प्रमाण का सामान्य एवं संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। भारतीय दर्शन में प्रमाण तीन अर्थों— प्रमा के पर्यायवाची के रूप में, प्रमा के साधन (करण) के रूप में तथा प्रमा के कारण के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यहाँ द्वितीय एवं तृतीय अर्थ ही विचारणीय हैं। प्रमाण प्रमा का 'करण' (साधन) अथवा 'कारण' है। 'कारण' पद की व्याख्या करते हुए पाणिनि<sup>१</sup> ने इसे 'साधकतम् करणम्' कहा है अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो सर्वाधिक प्रकृष्ट रूप से प्रवृत्त हो वही साधन है। इस प्रकार 'करण' के रूप में प्रमाण 'प्रमा का साधन' है। वस्तुतः कारण और करण में कोई मौलिक भेद नहीं है। भारतीय दर्शन में तीन प्रकार के कारण बतलाये गए हैं— उपादान कारण, निमित्त कारण और प्रयोजन कारण। इनमें निमित्त कारण को कारण कहा गया है। वस्तुतः 'कारण' का सम्प्रत्यय कारण से अधिक व्यापक है। कारण कारण का अंश है। "इसीलिए नैय्यायिक उद्योतकर ने कहा है कि प्रमाण को 'प्रमा के कारण'

रूप में परिभाषित करना अतिव्याप्ति परिभाषा का दोष है क्योंकि प्रमा के कारण तो 'प्रमाता' और 'प्रमेय' भी होते हैं, किन्तु प्रमाण प्रमाता और प्रमेय से भिन्न है। अतः प्रमाण को प्रमा का कारण ही समझा जाना चाहिए क्योंकि प्रमा के निमित्त कारण के रूप में प्रमाण ही उपस्थित होता है।<sup>१२</sup> जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है।<sup>१३</sup> आचार्य माणिक्यनन्दी ने स्व-अपूर्व-अर्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>१४</sup> अर्थात् जो स्व और अपूर्व पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान है वह प्रमाण है। प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं, अर्थात् प्रमाण के द्वारा जिसकी सिद्धि हो या जिसको माना जाय वह प्रमेय है। वह प्रमेय क्या है, उसका स्वरूप कैसा है एवं उसका वह स्वरूप सिद्ध है अथवा नहीं? ये बिन्दु ही इस आलेख के विवेच्य हैं। इस विवेचन-क्रम में प्रमेय का स्वरूप एवं प्रमेय की सिद्धि का प्रमुख आधार जैनशास्त्र के दो प्रमुख ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र (विक्रम ७५७ से ८२७) विरचित 'अनेकान्तवादप्रवेश' एवं माणिक्यनन्दी (९५० से १०२८ ई०) विरचित 'परीक्षामुख' हैं यथावसर अन्य जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है।

### प्रमेय का स्वरूप

आचार्य माणिक्यनन्दी परीक्षामुख में लिखते हैं कि प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है।<sup>१५</sup> तात्पर्य यह है कि प्रमाण का प्रयोजन है अर्थ (पदार्थ) की सिद्धि करना। न्यायदर्शन में भी बतलाया गया है कि प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहलाता है।<sup>१६</sup> आचार्य हरिभद्र ने षडदर्शनसमुच्चय में कहा है कि अनन्तधर्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय होती है।<sup>१७</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय माना है।<sup>१८</sup> आचार्य माणिक्यनन्दी ने भी सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को प्रमाण का विषय माना है।<sup>१९</sup> तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में प्रमाण का विषय अनन्तधर्मक वस्तु को माना गया है जो द्रव्य-पर्यायात्मक या सामान्य-विशेषात्मक है। जैनदर्शन में द्रव्य सामान्य का एवं पर्याय विशेष का द्योतक माना गया है, जिसका विवेचन आगे किया जाएगा। यहाँ ध्यातव्य है कि जैनदर्शन में पदार्थ को न केवल सामान्यरूप माना गया है, न केवल विशेषरूप माना गया है और न ही स्वतन्त्र उभयरूप; अपितु उभयात्मक (सामान्य-विशेषात्मक) माना गया है। यह सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है क्योंकि वही अर्थक्रिया में समर्थ है।<sup>२०</sup> केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप अर्थ (पदार्थ) अर्थ क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता अर्थात् ऐसे पदार्थ की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है क्योंकि वह अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय का विषय है तथा पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की अवाप्ति एवं स्थिति-लक्षण-

परिणाम द्वारा अर्थक्रिया की उपपत्ति (सद्भाव) होती है।<sup>११</sup> पदार्थ को सामान्य-विशेषात्मक होने में यहाँ दो हेतु दिये गए हैं। प्रथम हेतु है कि वह (पदार्थ) अनुवृत्त एवं व्यावृत्त प्रत्यय का विषय होता है। द्वितीय तर्क है कि उसमें प्रतिसमय पूर्वाकार का त्याग एवं उत्तराकार का ग्रहण होते हुए भी स्थितिरूप अर्थक्रिया देखी जाती है।

‘यह गाय है, यह भी गाय है’ अथवा ‘यह वही है, यह भी वही है’— इस प्रकार की सदृश आकार वाली प्रतीति (ज्ञान) को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सब गायों में ‘गौ गौ’ (गोत्व) इत्यादि रूप से जो प्रत्यय होता है वह अनुवृत्त प्रत्यय है। इसका विषय सामान्य है। ‘यह गाय काली है, यह चितकबरी है’ अथवा ‘यह वह नहीं है, यह भी वह नहीं है’— इत्यादि प्रकार के ज्ञान (विशेष आकार वाली प्रतीति) को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सब गायों में परस्पर भेद कराने वाला जो प्रत्यय है वह व्यावृत्त प्रत्यय कहलाता है। इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों का विषय (गोचर) होना, उसके भाव को ‘अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्ययगोचरत्व’ कहते हैं।

इस प्रकार बाह्य तथा आध्यात्मिक जितने भी प्रमेय हैं वे सब एक साथ ही अनुवृत्त तथा व्यावृत्त प्रत्यय के विषय होते हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण डॉ० वीरसागर जैन<sup>१२</sup> इस प्रकार करते हैं, “एक टोकरी में अनेक प्रकार के फल रखे हैं। उनमें हमें एक साथ दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। ‘यह भी फल है, यह भी फल है, यह भी फल है’— इत्यादि प्रकार का अनुवृत्त ज्ञान भी होता है और ‘यह आम है, यह अनार है, यह केला है, यह पपीता है, यह चीकू है’— इत्यादि प्रकार का व्यावृत्त ज्ञान भी होता है।” इसका और स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं, “मान लीजिए उस टोकरी में केवल एक ही प्रकार के फल हैं— आम। तथापि हमें उनमें भी दोनों प्रकार का ज्ञान अवश्य होता है। ‘यह भी आम है, यह भी आम है, यह भी आम है’— इत्यादि प्रकार का अनुवृत्त प्रत्यय भी होता है और ‘यह दशहरी है, यह लँगड़ा है, यह तोतापारी है, यह बादामी है’— इत्यादि प्रकार व्यावृत्त प्रत्यय (ज्ञान) भी होता है।” इस हेतु के द्वारा तिर्यक् सामान्य व व्यतिरेक विशेष<sup>१३</sup> सहित धर्मवाली (सामान्य-विशेषात्मक) वस्तु की सिद्धि होती है।

पदार्थ की सामान्य-विशेषात्मकता को दर्शाने के लिए जैन दर्शन में दूसरा हेतु यह दिया गया है कि उसमें (प्रत्येक पदार्थ में) प्रतिसमय पूर्वाकार का त्याग, उत्तराकार का ग्रहण और फिर भी स्थितिरूप अर्थक्रिया देखी जाती है। जल-धारण आदि घट की अर्थक्रिया है, शीत-निवारण आदि पट की अर्थक्रिया है। इस प्रकार सब पदार्थों के द्वारा अर्थक्रिया की जाती है जिसका तात्पर्य है अर्थ का अपना कार्य। प्रत्येक पदार्थ अपना कार्य करता है किन्तु प्रत्येक पदार्थ में अर्थक्रिया तभी हो सकती है जब वह

सामान्य-विशेषात्मक हो।<sup>१५</sup> पूर्व आकार के परिहार को व्यय कहते हैं और उत्तर आकार की प्राप्ति को उत्पाद कहते हैं, ये दोनों अवस्थायें विशेष रूप हैं। उत्पाद और व्यय के साथ वस्तु की जो स्थिति है, उसे ध्रौव्य कहते हैं और वह सामान्यरूप है। अर्थात् इन दोनों अवस्थाओं में रहने वाला ध्रौव्य रूप द्रव्यसामान्य रूप है। इस दूसरे हेतु के द्वारा ऊर्ध्वता सामान्य व पर्यायविशेष सहित धर्मवाली (सामान्य-विशेषात्मक) वस्तु की सिद्धि होती है। यहाँ पर वस्तु की सामान्य-विशेषात्मकता को उसकी त्रयात्मकता के आधार पर सिद्ध किया गया है। जैनदर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य— इन तीनों से युक्त होगी, वही सत् होगी तथा वही अनन्तधर्मक वस्तुज्ञान का विषय (प्रमेय) है।<sup>१६</sup> आचार्य हरिभद्र शास्त्रवार्तासमुच्चय में लिखते हैं, “जब सोने के घड़े को नष्ट करके मुकुट बनाया जाता है तब सोना पूर्ववत् स्थिति में बना रहता है और ऐसी अवस्था में यह एक सकारण बात है कि जिस व्यक्ति को सोने के घड़े की आवश्यकता हो वह शोक में पड़ जाय, जिसे मुकुट की आवश्यकता हो वह प्रसन्न हो जाय तथा जिसे सोने की आवश्यकता हो वह अपने मनःस्थिति को पूर्ववत् बनाये रखे।<sup>१७</sup> आशय यह है कि जब एक ही घटना को ‘घड़े का नाश’, ‘मुकुट की उत्पत्ति’ और ‘सोने का ज्यों का त्यों बने रहना’ इन तीनों रूपों में देखा जा सकता है तब यही मानना चाहिये कि जगत् की प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, नाश तथा स्थिरता इन तीनों रूपों वाली है। इसी प्रकार जिसने दूध पर रहने का व्रत लिया है वह दही नहीं खाता, जिसने दही पर रहने का व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरस न लेने का व्रत लिया है वह न तो दूध पीता है और न ही दही खाता है।<sup>१८</sup> इससे सिद्ध होता है कि एक वस्तु का तात्त्विक स्वरूप तीन प्रकार का है। उसमें प्रतिसमय पूर्वाकार का त्याग, उत्तराकार का ग्रहण एवं उन दोनों आकारों में स्थितिरूप परिणाम के द्वारा अर्थक्रिया होती ही रहती है। उदाहरणार्थ जब सोने का घड़ा तोड़कर मुकुट बनाया जाता है तो कहा जाता है कि यहाँ सोना द्रव्य में घड़ा पर्याय का त्याग (नाश) होकर मुकुट पर्याय का ग्रहण (उत्पत्ति) हो गया। इसी तरह जब दूध जमकर दही बन जाता है तो कहा जाता है कि यहाँ गोरस द्रव्य में दूध पर्याय का त्याग (नाश) होकर दही पर्याय का ग्रहण (उत्पत्ति) हो गया। इन उदाहरणों में पूर्वाकार-परिहार एवं उत्तराकार-अवाप्ति वस्तु की विशेषता को दर्शाते हैं, यथा— घड़ा, मुकुट, दूध, दही इत्यादि विशेष वस्तुएँ। इसी तरह स्थिति-लक्षण<sup>१९</sup> परिणाम (द्रव्यत्व) उसके सामान्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है, यथा— सोना द्रव्य, गोरस द्रव्य इत्यादि। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सभी पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं। यहाँ पर सामान्य एवं विशेष के भेद-प्रभेद का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः उनकी संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

## सामान्य एवं विशेष

जैनदर्शन में तिर्यक् सामान्य एवं ऊर्ध्वता सामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का बतलाया गया है।<sup>१९</sup> एक जाति के सभी द्रव्यों में पाये जाने वाले सदृश-परिणाम (सादृश्य) को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे- खण्डी, मुण्डी आदि अनेक गायों में गोत्व का पाया जाना।<sup>२०</sup> तात्पर्य यह है कि गायों का एक तबेला है जिसमें कई गायें हैं जिनके नाम खण्डी, मुण्डी इत्यादि रखे गए हैं। जब इन खण्डी, मुण्डी इत्यादि को 'यह भी गाय है, यह भी गाय है' कहते हैं तब उन सब गायों में 'गौ गौ' ऐसा जो अनुवृत्त प्रत्यय होता है वह गोत्व सामान्य (गायपना) के कारण होता है। यह गोत्व, मनुष्यत्व, घटत्व इत्यादि तिर्यक् सामान्य कहलाता है। इसी तरह पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं, जैसे स्थास, कोश, कुशूल आदि घट की विभिन्न पर्यायों में मिट्टी रहती है।<sup>२१</sup> अर्थात् एक ही द्रव्य की पूर्वापर-व्यापी अनेक पर्यायों में पाये जाने वाले सादृश्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि काल सदैव आगे की ओर अर्थात् ऊपर की ओर चलता है, इस अपेक्षा से इसका नामकरण ऊर्ध्वता सामान्य किया गया है। जैसे मिट्टी से घड़ा बनाते समय मिट्टी द्रव्य हुआ और घट पर्याय किन्तु इस घट के बनने से पूर्व मिट्टी द्रव्य अन्य पर्यायों को भी धारण करता है, वे हैं- स्थास, कोश, कुशूल आदि।<sup>२२</sup> इन सब पर्यायों में मिट्टी द्रव्य विद्यमान रहता है। ये पर्यायें एक के बाद एक होती हैं अतः इनमें पूर्वाकार का परिहार उत्तराकार की अवाप्ति (प्राप्ति) के मध्य स्थित द्रव्य ही ऊर्ध्वता सामान्य का विषय है। यहाँ तिर्यक् सामान्य एवं ऊर्ध्वता सामान्य में प्रमुख अन्तर यह है कि तिर्यक् सामान्य में द्रव्य अनेक हैं और समय एक है किन्तु ऊर्ध्वता सामान्य में द्रव्य एक है और समय अनेक हैं।<sup>२३</sup>

इसी तरह विशेष भी पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष के भेद से द्विविध है।<sup>२४</sup> एक ही द्रव्य में होने वाले क्रमवर्ती परिणामों को पर्याय विशेष कहते हैं। जैसे आत्मा में हर्ष, विषादादि परिणाम क्रम से होते हैं।<sup>२५</sup> तात्पर्य यह है कि एक ही द्रव्य में क्रम से अनेक परिणाम होते रहते हैं। आत्मा नामक द्रव्य में कभी हर्ष होता है तो कभी विषाद, कभी सुख होता है तो कभी दुःख। ये सब आत्मा के पर्याय हैं और इन्हीं को पर्याय विशेष कहते हैं। इन पर्यायों में व्यावृत्त प्रत्यय होता है जिससे हमें यह ज्ञान होता है कि हर्ष पर्याय विषाद पर्याय से भिन्न है। ये विभिन्न पर्यायें पुद्गल आदि सब द्रव्यों में होती हैं। सोने का मुकुट, कुण्डल आदि विशेष पर्यायें हैं जिनमें व्यावृत्त प्रत्यय पाया जाता है। आचार्य माणिक्यनन्दी कहते हैं कि एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं, गाय, भैंस आदि की

तरह।<sup>१६</sup> अर्थात् अनेक पदार्थों में पाये जाने वाले परस्पर वैसादृश्य को व्यतिरेक विशेष कहते हैं। जैसे- अनेक पशुओं में गाय, भैंस आदि। एक अर्थ (पदार्थ) से सजातीय तथा विजातीय अर्थ-अर्थान्तर कहलाता है। एक गाय से दूसरी गाय अर्थान्तर है और एक भैंस से दूसरी भैंस अर्थान्तर है, यह सजातीय अर्थान्तर है। इसी प्रकार गाय से भैंस, अश्व आदि अर्थान्तर हैं, यह विजातीय अर्थान्तर है। इसी विशेष के कारण हम एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को पृथक् करते हैं।

इस प्रकार पदार्थ सामान्य-विशेष रूप है और वही प्रमेय है, प्रमाण का विषय न केवल सामान्य है और न केवल विशेष। ये दोनों पृथक् रहकर भी विषय नहीं बन सकते, ये परस्पर में अपृथक्भूत हैं। इनमें तादात्म्य सम्बन्ध है। इस तरह सामान्य-विशेषात्मक अर्थ ही प्रमाण का विषय होता है तथा उसे ही प्रमेय कहा जाता है।

### प्रमेय के सामान्य-विशेषात्मकत्व की सिद्धि

आचार्य माणिक्यनन्दी कहते हैं कि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय (प्रमेय) होता है।<sup>१७</sup> आचार्य हरिभद्र का भी अभिमत है कि वस्तु सामान्य-विशेषरूप है और यह अनुभव से सिद्ध है। उदाहरणार्थ- घटादि के बारे में 'घट घट है' ऐसी सामान्याकार बुद्धि उत्पन्न होती है तथा 'मिट्टी का, ताँबे का, रजत का है' ऐसी विशेषाकार बुद्धि भी होती है और '(घट) पटादि रूप नहीं होता है' ऐसी व्यतिरेक बुद्धि भी होती है।<sup>१८</sup> उनका मानना है कि पदार्थ का सद्भाव उसके ज्ञान के सद्भाव से निश्चित होता है और वह ज्ञान सामान्य-विशेषाकार ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार के अनुभव से ही सिद्ध होता है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। 'यह अनुभव भ्रान्तिमात्र है' (बौद्धों का यह आक्षेप) भी घटित नहीं होता है क्योंकि घटादि के समीप होने पर भी समर्थ घट से अन्य कारण जिसके पास है ऐसे सभी प्रमाताओं को समानरूप से यह अनुभव होता है।<sup>१९</sup>

यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'घट घट है' ऐसा जो विकल्प (सामान्याकार बुद्धि) होता है वह तद्रूपपरावृत्त वस्तुजन्य है और संकेतकृतवासना से उत्थापित होने पर भी वस्तुस्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकता तथा जो वस्तुग्राही विकल्प है वह तो सजातीय एवं असजातीय से व्यावृत्त वस्तु स्वलक्षण-विषय (सविकल्प) होने से सामान्य-विशेषाकार नहीं है। इस प्रकार 'अनुभव से ही सिद्ध है' जो कहा गया है वह अयुक्त है।<sup>२०</sup>

इस शंका के समाधानार्थ आचार्य हरिभद्र का कथन है कि उपरोक्त कथन (आक्षेप) युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से निर्विकल्पकानुभव भी सामान्य-विशेषाकार

वाला है और गृहीतग्राही विकल्प (ज्ञान) का प्रामाण्य प्राप्त नहीं होता है। यदि गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमाण माना जाय तो गृहीतग्राहित्व की अनुपपत्ति होती है।<sup>३१</sup> जैनदर्शन की मान्यता है कि सर्वत्र अर्थ की व्यवस्था प्रत्यय के द्वारा ही होती है और विलक्षण काली-पीली गायों में भी 'गौ गौ' इस प्रकार का अनुगत प्रत्यय पाया जाता है। अतः अनुगत प्रतिभास के होने से वस्तु भी अनुगत धर्म से युक्त है, ऐसा मानना चाहिए। यदि इसका विषय व्यावृत्ति होता तो 'गौ गौ' इस प्रकार की विधि की प्रधानता से प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए थी। जिस प्रकार विजातीय से व्यावृत्ति वस्तु का स्वरूप है उसी प्रकार सजातीय से व्यावृत्ति भी वस्तु का स्वरूप है। अतः दर्शन (निर्विकल्पकज्ञान) के पश्चात् होने वाले विकल्प में यदि विजातीय व्यावृत्ति रूप आकार का उल्लेख होता है तो सजातीय व्यावृत्ति रूप आकार का भी उल्लेख होना चाहिए क्योंकि सजातीय व्यावृत्ति और विजातीय व्यावृत्ति में तथा स्वलक्षण में कोई भेद नहीं है। बौद्ध दार्शनिक असमानाकार व्यावृत्ति के द्वारा समानाकार रूप सजातीयता की कल्पना करते हैं तो जो स्वयं असमानाकार है उसमें समानता की कल्पना करते हैं या जो स्वयं समानाकार है उसमें समानता की कल्पना करते हैं? जो स्वयं असमानाकार है उसमें अन्य से व्यावृत्त होने पर भी समानाकारता मानना व्यर्थ है। यदि ऐसा माना जाता है तो भैंस वगैरह से व्यावृत्त होने से गाय और अश्व में भी समानता का प्रसंग आता है। जिस प्रकार मूर्त घट से ज्ञान व्यावृत्त (भिन्न) है उसी प्रकार पट भी व्यावृत्त है। अतः ज्ञान और पट में मूर्तिकपना समान धर्म हो जाएगा तथा अन्योन्याश्रय दोष भी आता है। अर्थात् अन्य से व्यावृत्त होने पर समानाकारता होती है और समानाकारता के होने पर अन्य से व्यावृत्ति होती है अतः जो स्वयं समानाकार है उसमें अन्य से व्यावृत्ति के द्वारा समानाकार की कल्पना करना व्यर्थ है।

यदि (बौद्ध) मान्यतानुसार यह कहा जाय कि जो निर्विकल्पकानुभव है वह विजातीय भेद-ग्रहण-प्रसंग से अभ्रान्त है और सजातीय भेद-ग्रहण-प्रसंग से पुनः भ्रान्तरूप है। अतः उसका सजातीय भेद-ग्राहक जो विकल्प है वह असम्भव है तो यह कथन भी योग्य नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु भ्रान्तरूप एवं अभ्रान्तरूप हो तो 'कल्पना रहित अभ्रान्त' ऐसा जो प्रत्यक्ष का लक्षण (बौद्धों का) है उसमें अभ्रान्त विशेषण निरुपयोगी हो जाएगा। बौद्धों द्वारा इस स्थल पर यह तर्क दिया जा सकता है कि यह निर्विकल्पकानुभव विजातीय भेद ग्रहण करने में समर्थ है और सजातीय भेद ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। समर्थ अनुभव से हुए संस्कार के उद्रेक के बलवान होने से वह केवल विजातीय भेद-ग्राहक विकल्प को ही उत्पन्न कर सकता है, सजातीय भेद-ग्राहक विकल्प को नहीं। परन्तु यहाँ उनके (बौद्धों) कथन के प्रति यह संशय उत्पन्न होगा कि यह (निर्विकल्प) अनुभव जिस स्वभाव से विजातीय भेद को ग्रहण

करने में समर्थ है क्या उसी स्वभाव से ही सजातीय भेद को भी ग्रहण करने में समर्थ है अथवा किसी अन्य स्वभाव से। यदि उसी स्वभाव से समर्थ हो तो विजातीय भेद के ग्रहण की ही तरह उससे ही सजातीय भेद का भी ग्रहण यथार्थरीति से होता है अथवा इससे उल्टा भी होता है तथा ऐसा होने से सजातीय-विजातीय-भेदग्रहण रूप से समर्थ और असमर्थ दोनों में अविशेष (एक स्वभाव) हुआ क्योंकि 'उसके अनुभव से हुए संस्कार के उद्रेक के बलवान होने का' जो प्रसंग है वह उभय में समान ही रहेगा और विजातीय भेद-ग्राहक विकल्प की तरह सजातीय भेद-ग्राहक विकल्प भी होगा अथवा इससे उल्टा भी होगा क्योंकि इस अनुभव से हुए संस्कार रूप विकल्प का कारण उभयत्र समान है।<sup>३३</sup> अतः जिस प्रकार वस्तु विजातीय से व्यावृत्त होती है उसी प्रकार सजातीय से भी व्यावृत्त होती है। इसीलिए 'घट घट है' ऐसी सामान्याकार बुद्धि होती है जिसका कारण अनुगत प्रत्यय होता है। इसी तरह उनमें व्यावृत्त प्रत्यय भी होता है, अतः पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होता है।

अनेकान्तवादप्रवेश में पूर्वपक्ष प्रकरण के अन्तर्गत आचार्य हरिभद्र सामान्य-विशेषात्मक वस्तु पर पूर्वपक्षी (वैशेषिकादि) के अभिमत का उल्लेख करते हुए कहते हैं,<sup>३४</sup> "वस्तु का सामान्य-विशेषरूप भी प्रतिक्षिप्त (निन्दित) है एवं मानने योग्य नहीं है। उदाहरणार्थ- सामान्य एक है और विशेष अनेक हैं, सामान्य नित्य है और विशेष अनित्य हैं, सामान्य निरवयव है और विशेष सावयव हैं, सामान्य अक्रिय है और विशेष सक्रिय हैं, सामान्य सर्वगत है और विशेष असर्वगत हैं। अतः इस तरह जब पदार्थ सामान्यरूप है तो विशेषरूप किस प्रकार से हो सकता है और यदि विशेषरूप है तो सामान्यरूप किस प्रकार से हो सकता है?" अतः वह या तो विशेषरूप होगा या सामान्यरूप। इस प्रकार वस्तु का सामान्य-विशेषात्मक होना युक्तिसंगत नहीं है।

प्रत्युत्तर स्वरूप आचार्य हरिभद्र<sup>३५</sup> कहते हैं जो पूर्व में कहा गया था, 'सामान्य एक है और विशेष अनेक हैं, इत्यादि' वह भी अयुक्त है क्योंकि ऐसा स्वीकरण (जैनों द्वारा) नहीं होता है। युक्तिरहित होने से हम (जैन) ऐसा सामान्य मानते ही नहीं हैं। उदाहरणार्थ- वह एकादि स्वभाव वाला सामान्य दिशा, देश, काल और स्वभाव से भिन्न अनेक विशेषों में सर्वात्मना रहता है अथवा एकदेश से रहता है। सर्वात्मना रहना सम्भव नहीं है क्योंकि विशेष अनन्त हैं अतः अनन्त सामान्य मानने का प्रश्न आएगा अथवा एक विशेष से व्यातिरिक्त अन्य विशेष सामान्य शून्य हो जाएँगे और सामान्य को अनन्त मानने पर तो सामान्य की एकता का विरोध होगा। 'एक देश से रहता है' ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि तब सामान्य को सदेश मानना पड़ेगा। इस तरह सामान्य आकाश के सदृश व्यापक हो रह नहीं सकता। सम्पूर्ण रीति और देश के

बिना रहने की वृत्ति भी दिखती नहीं है।

आकाश के सप्रदेशत्व को स्वीकार करने के कारण 'उभयव्यतिरिक्त आकाश की वृत्ति है' यह कहना भी असिद्ध है। निःप्रदेशत्व मानने पर अनेक दोष प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ— जिस देश से आकाश विन्ध्याचल के साथ संयुक्त है क्या उसी प्रदेश से हिमाचल, मन्द्राचल आदि के साथ भी संयुक्त है, अथवा अन्य प्रदेश से? यदि उसी प्रदेश से संयुक्त मानें तो विन्ध्य, हिमाद्रि आदि का 'एकत्र अवस्थान' का प्रसंग आता है क्योंकि इसके बिना निःप्रदेश एक आकाश का संयोग घटता नहीं है। यदि अन्य प्रदेश से ऐसा स्वीकार करें तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि आकाश का सदेशत्व स्वीकार किया गया है।

उपरोक्त सन्दर्भ में यहाँ पूर्वपक्षी (वैशेषिकादि) का अभिमत द्रष्टव्य है— यदि 'सनातन (नित्य), परमार्थ सत्, व्यापी, एक और अवयव' ऐसी सामान्य वस्तु न हो तो देश-काल-स्वभाव भेद से भिन्न घट, शराव (शिवक), उदंचन आदि विशेषों के बारे में सर्वत्र मृत्तिका-मृत्तिका ऐसे शब्द और ज्ञान (बुद्धि) अभिन्न रीति से नहीं जाने जायेंगे। इसी तरह न ही हिम, तुषार, करक, उदक, अंगार, तुषाग्नि, ज्वालाग्नि, झंझावात, चक्रवात, उत्कलिका, पवन, उदुम्बर इत्यादि अत्यन्त भिन्न (जाति भेद से) अनेक विशेषों के बारे में एकाकार बुद्धि होती है। एकाकार शब्द भी विद्यमान नहीं रहता, इसीलिए यथोक्त प्रकार से अभिन्न बुद्धि और शब्द दोनों की प्रवृत्ति का कारण रूप (जिसके ऊपर आधार है) वस्तु-सत् सामान्य की सत्ता का आश्रय लेना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र<sup>३६</sup> का अभिमत है, "हम यथोक्त शब्द और बुद्धि इन दो की प्रवृत्ति के निमित्त (कारण) का विरोध नहीं करते हैं, वरन एकादि धर्मयुक्त परिकल्पित सामान्य का निबन्धन करते हैं। जिस प्रकार विशेष वृत्ति के योग के बिना घट (सामान्य) सिद्ध ही नहीं होता, यह बात पूर्व में निर्देशित की जा चुकी है।"

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यथोक्त शब्द और बुद्धि की प्रवृत्ति का कारण क्या है? यथोक्त शब्द और बुद्धि की प्रवृत्ति का कारण अनेक (सत्त्व-ज्ञेयत्वादि) धर्मात्मक वस्तु का समान परिणाम है। सामान्य वृत्ति की परीक्षा में उत्पन्न दो विकल्प रूप दोष की उत्पत्ति यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि समान परिणाम उससे विलक्षण है (एकादि धर्मक सामान्य से विलक्षण है) और तुल्यज्ञान के परिच्छेद्य जो वस्तु स्वरूप है वह सामान्य परिणाम है। यह ही सामान्यभाव रूप से घट सकता है क्योंकि 'जो समान का भाव है वह सामान्य है, समान के द्वारा वैसा (समानतया) हो सकता है', ऐसा अन्वयार्थ किया गया है। अर्थान्तरभूत भाव का उसके बिना भी उसके समानत्व में

उपयोग नहीं है, अन्यथा 'समानों का' ऐसे अभिधान का अभाव होने से उसकी कल्पना अयुक्त है। अविनाभावी भेद हो तो समानत्व (तुल्यत्व) होता है, भेद का अभाव हो तो सर्वथा एकत्व होने से समानत्व की अनुपपत्ति होती है और ऐसा समान परिणाम ही बुद्धि-शब्द-द्वय की प्रवृत्ति का निमित्त है। ऐसा होने से जो समान परिणाम एक विशेष घटादि में है वह ही दूसरे विशेष (शरावादि) में नहीं है।<sup>३७</sup> ऐसे सामान्य के विचार में कथित देशरूप और सम्पूर्णरूप भेदद्वय का दोष भी नहीं हो सकता है तथा ऐसा होने पर विशेषों के परस्पर विलक्षण होने से समान बुद्धि और शब्द द्वय की प्रवृत्ति का अभाव भी सम्भव नहीं है क्योंकि वैलक्षण्य होने पर भी समान परिणाम के सामर्थ्य से प्रवृत्ति होगी। यहाँ विशेष बुद्धि असमान परिणाम के कारण से है। यह यथोदित बुद्धि और शब्दद्वय की प्रवृत्ति है। कहा भी गया है, "वस्तु (घटादि) का जो समान परिणाम (मृदादि) है वह ही सामान्य है और असमान वस्तु (ऊर्ध्वत्वादि) विशेष है और वस्तु ऐसे अनेकरूप (सामान्य-विशेषात्मक) वाली है।"<sup>३८</sup>

इस प्रकार वस्तु जिस कारण से सामान्यरूप है उसी कारण से ही विशेषरूप है क्योंकि समान परिणाम से असमान परिणाम अविनाभूत है। जिस कारण से विशेषरूप है उसी कारण से सामान्यरूप है क्योंकि समान परिणाम से समान परिणाम विनाभूत है। समान और असमान परिणाम तथा उभय के स्वसंवेदन से उभयरूप होने के कारण दोनों (समान और असमान परिणाम) का विरोध भी नहीं है क्योंकि वे उभयरूप तथा व्यवस्थापित हैं।

एक अन्य शंका की जाती है कि वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक होने से सकललोक प्रसिद्ध व्यवहार नियम के उच्छेद का प्रसंग होगा। यथा- विष, मोदक आदि व्यक्ति से अभिन्न एक सामान्य होता है और तब (यदि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक हो तो) विष विष नहीं होगा तथा मोदक मोदक ही नहीं होगा क्योंकि विष मोदकादि से अभिन्न सामान्य से व्यातिरेक नहीं है और मोदक भी विषादि से अभिन्न सामान्य से व्यतिरेक नहीं है।<sup>३९</sup>

उक्त आक्षेप भी निरर्थक है क्योंकि जैन दार्शनिकों द्वारा उक्त प्रकार के सामान्य का स्वीकरण ही नहीं होता वरन् वे समान परिणाम को ही सामान्य कहते हैं क्योंकि वह भेद से अविनाभूत है।

इसलिए जो विष से अभिन्न है वह ही मोदकादि से भी अभिन्न नहीं है क्योंकि उसके सर्वथा एकत्व से समानत्व का अयोग है। यह भी नहीं कह सकते कि समान परिणाम भी प्रतिविशेष (घट-शरावादि) अन्य है। इसलिए असमान परिणाम की तरह उसके

भाव की ही अनुपपत्ति होगी क्योंकि अन्यत्व होने पर भी समान परिणाम और असमान परिणाम तथा उभय ये भिन्न स्वभाव वाले हैं। उदाहरणार्थ— समान बुद्धि और शब्द में कारण स्वभाव वाला वह समान परिणाम तथा विशिष्ट बुद्धि और शब्द उत्पन्न करने वाले इतर परिणाम यथोक्त संवेदन और अभिधान (शब्द), संवेद्य और अभिधेय हैं वही विषादि हैं, ऐसी प्रतीति है, अन्यथा यथोक्त (सामान्य-विशेषरूप) संवेदनादि के अभाव का प्रसंग आएगा। इसलिए यद्यपि दोनों (विष और मोदक) उभयरूप (सामान्य-विशेषरूप) हैं तथापि विषार्थी विष के लिए ही प्रवृत्त होता है क्योंकि विष का विशेष परिणाम मोदक के सामान्य परिणाम से अविनाभूत नहीं है। अतः उक्त शंका अयोग्य है। इस प्रकार वस्तु सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध होती है।

### सन्दर्भ सूची

१. पाणिनिसूत्र, मद्रास गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट सिरीज, गवर्नमेण्ट ऑफ मद्रास, १९५४, १/४/४२, पृ० ७३,
२. उद्धृत, भारतीय ज्ञानमीमांसा, डॉ० नीलिमा सिन्हा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली २००५, पृ० ३८,
३. न्यायदीपिका, अभिनवधर्मभूषण यति, अनु०- डॉ० दरबारी लाल कोठिया, जैनविद्या संस्थान, महावीर जी, राज०, २००७, १/८, पृ० ९९,
४. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। - १/१, परीक्षामुख, आचार्य माणिक्यनन्दी, पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, २००९, पृ० १०,
५. प्रमाणादर्थं संसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः। - मंगलाचरण गाथा, वही, पृ० ९,
६. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। - १/१/१, न्यायसूत्र उद्धृत न्यायदर्शनम्, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पृ० ८,
७. अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्वह। - का० ५५, षड्दर्शनसमुच्चय, आचार्य हरिभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९८१, पृ० ३१२,
८. प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु। - १/१/३०, प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, १९८९, पृ० २४,
९. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। - ४/१, परीक्षामुख, पूर्वोक्त, पृ० ५८,
१०. अर्थक्रिया सामर्थ्यात्। - १/१/३१, प्रमाणमीमांसा, पूर्वोक्त, पृ० २५,
११. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकार परिहारावाप्तिस्थिति-लक्षण परिणामेनार्थक्रियोपत्तेश्च॥ - ४/२, परीक्षामुख, पूर्वोक्त, पृ० ५८,
१२. डॉ० वीरसागर जैन, न्यायमन्दिर, जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, राजस्थान,

२००६, पृ० ७५,

१३. जैनदर्शन में सामान्य तिर्यक् एवं ऊर्ध्वता भेद से द्विविध है तथा विशेष भी पर्याय एवं व्यतिरेक भेद से द्विविध हैं, जिसकी चर्चा आगे प्रस्तावित है।
१४. प्रो० उदयचन्द जैन, प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, १९९८, पृ० १५५,
१५. येनोत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते। अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः॥  
- का० ५७, षड्दर्शनसमुच्चय, पूर्वोक्त, पृ० ३४७,
१६. घटमौलीसुवर्णाशीं नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्। - ७/२, शास्त्रवार्तासमुच्चय, आचार्य हरिभद्र, दिव्यदर्शन ट्रस्ट मुम्बई,
१७. पयोव्रतो न दध्यति, न पयोऽति दधिव्रतः।  
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्। - ७/३, शास्त्रवार्तासमुच्चय, पूर्वोक्त,
१८. यहाँ आचार्य माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख के सूत्र ४/२ में स्थितिलक्षण परिणाम में 'लक्षण' शब्द का प्रयोग भी वस्तु की सामान्य-विशेषात्मकता को दर्शाने के लिए किया है। द्रष्टव्य है कि मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु (चिह्न) को लक्षण कहते हैं, जैसा कि अकलंकदेव ने राजवार्तिक में कहा है- "परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा व्यावृत्त (अलग) की जाती है उसे लक्षण कहते हैं।" यह दो प्रकार का होता है- आत्मभूत और अनात्मभूत। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं और जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो (उससे पृथक् हो) उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का दण्ड (दण्डी पुरुष का दण्ड) अनात्मभूत लक्षण है। अग्नि की उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जलादि पदार्थों से अलग करती है। इसीलिए उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है। 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष में न मिलता हुआ भी पुरुष को पुरुष-भिन्न पदार्थों से पृथक् करता है। इसीलिए दण्ड दण्डी पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है।
१९. सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्॥ - ४/३, परीक्षामुख, पूर्वोक्त,
२०. सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्॥ - ४/४, वही,
२१. परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वतासामान्य मृदिव स्थासादिषु। - ४/५, वही,

२२. व्यवहार का एक अन्य उदाहरण- आटे की रोटी में आटा द्रव्य हुआ और रोटी पर्याय, इसके अतिरिक्त अन्य पर्याय हैं- गूँथा हुआ आटा, लोइ, बेली हुई रोटी तथा अन्तिम पर्याय है सिंकी हुई रोटी।
२३. एककाले नानाव्यक्ति गतोऽन्वय तिर्यक्सामान्यं भण्यते। नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतो- ऽन्वय ऊर्ध्वता सामान्यं भण्यते। -३९, प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, उद्धृत- न्यायमन्दिर, पूर्वोक्त, पृ० ७४,
२४. विशेषश्च॥ पर्यायव्यतिरेकभेदात्॥ - ४/६-७, परीक्षामुख, पूर्वोक्त,
२५. एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्। -४/८, वही,
२६. अर्थान्तरगतो विसदृश परिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्। - ४/९, वही,
२७. सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः॥ - ४/१, परीक्षामुख, पूर्वोक्त,
२८. अनेकान्तवादप्रवेश, आचार्य हरिभद्र, भोगीलाल लहेरचन्द शाह, पाटन, गुजरात, १९१९, पृ० ३४,
२९. वही,
३०. वही,
३१. वही,
३२. न्यायकुमुदचन्द्र, आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रथमभाग, सम्पा०- महेन्द्र कुमार न्यायशास्त्री, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३८, पृ० २९०,
३३. अनेकान्तवादप्रवेश, पूर्वोक्त, पृ० ३७,
३४. वही, पृ० ५,
३५. वही, पृ० ३९,
३६. वही, पृ० ४१,
३७. वही, पृ० ४२,
३८. वस्तुत एव समानः परिणामो यः स एव सामान्यम्। असमानवस्तु विशेषो वस्त्ववमनेकरूपं तु॥ - वही, पृ० ४३,
३९. वही, पृ० ५,

## परीक्षामुख में प्रमाण-लक्षण निरूपण : एक अध्ययन

डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव

वस्तु तत्त्व की सिद्धि बिना प्रमाण के सम्भव नहीं है। इस विषय पर भारतीय दर्शनों में बहुत गम्भीर चिन्तन किया गया है। न्यायदर्शन और बौद्धदर्शन का प्रमाण चिन्तन बड़ा व्यापक है। जैनदर्शन का प्रमाण-चिन्तन उनसे भी गम्भीर है जिस ओर लोगों का ध्यान कम गया है। बौद्धों की तरह ही जैनदर्शन में ज्ञान को प्रमाण माना है, इन्द्रिय, इन्द्रिय-सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति आदि को नहीं। इसी तरह प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद को लेकर, गृहीतग्राही ज्ञान, स्मृति आदि को लेकर भी जैनों की अभिनव दृष्टि है।

- सम्पादक

न्यायशास्त्र को तर्कशास्त्र, हेतुविद्या और प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं, किन्तु इसका प्राचीन नाम 'आन्वीक्षिकी' है। कौटिल्य (३२७ ई० पू०) ने अपने अर्थशास्त्र<sup>१</sup> में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति- इन चार विद्याओं का निर्देश किया है और कहा है कि त्रयी में धर्म-अधर्म, वार्ता में अर्थ-अनर्थ तथा दण्डनीति में नय-अनय का कथन होता है और हेतु द्वारा इनके बलाबल का अन्वीक्षण करने से लोगों का उपचार होता है, संकट और आनन्द में यह बुद्धि को स्थिर रखती है, प्रज्ञा, वचन और कर्म को निपुण बनाती है। यह आन्वीक्षिकी की विद्या सर्व विद्याओं का प्रदीप, सब धर्मों का आधार है।

कौटिल्य का अनुसरण करते हुए जैनाचार्य सोमदेव (९५९ ई०) का अभिमत है<sup>२</sup> कि आन्वीक्षिकी विद्या का पाठक हेतुओं द्वारा कार्यो के बलाबल का विचार करता है कि संकट में खेद-भिन्न नहीं होता, अभ्युदय में मदोन्मत्त नहीं होता और बुद्धि-कौशल तथा वाक्-कौशल को प्राप्त करता है। किन्तु मनुस्मृति<sup>३</sup> में आन्वीक्षिकी को आत्मविद्या कहा है और सोमदेव<sup>४</sup> ने भी आन्वीक्षिकी को अध्यात्म-विषय में प्रायोजनीय बताया है।

नैयायिक वात्स्यायन (४५० ई०) ने अपने 'न्यायभाष्य' के आरम्भ में लिखा है<sup>५</sup> कि ये चारो विद्याएँ प्राणियों के उपकार के लिए कही गई हैं। जिनमें से चतुर्थी यह आन्वीक्षिकी विद्या है। उसके पृथक् प्रस्थान, संशय आदि पदार्थ हैं। यदि उन संशय आदि का कथन न किया जाए तो केवल अध्यात्मविद्या मात्र हो जाए, जैसे कि उपनिषद्।

इसका आशय यह है कि यदि आन्वीक्षिकी में न्यायशास्त्र प्रतिपादित संयम, छल, जाति आदि का प्रयोग किया जाता है तो वह न्यायविद्या है अन्यथा वह अध्यात्मविद्या है। इस तरह आन्वीक्षिकी का विषय आत्मविद्या भी है और हेतुवाद भी है।

### जैन दर्शन में प्रतिपादित न्याय

प्रत्येक दर्शन या धर्म के प्रवर्तक की एक विशेष दृष्टि होती है जो उसकी आधारभूत होती है, जैसे भगवान् बुद्ध की मध्यम प्रतिपदा दृष्टि और शङ्कराचार्य की अद्वैतदृष्टि। जैनदर्शन के प्रवर्तक महापुरुषों की भी एक विशेष दृष्टि रही है, उसे अनेकान्तवाद कहते हैं। जैनदर्शन का समस्त आचार-विचार उसी के आधार पर है। इसी से जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहलाता है। अनेकान्तवाद और जैनदर्शन में परस्पर पर्यायवाची हो गए हैं। वस्तु सत् ही है या असत् ही है या नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार की मान्यता को एकान्त कहते हैं और उसका निराकरण करके वस्तु को अपेक्षाभेद से सत्-असत्, नित्य-अनित्य मानना अनेकान्त है।

अन्य दर्शनों में किसी को नित्य और किसी को अनित्य माना गया है। किन्तु जैनदर्शन में कहा गया है— 'दीपक से लेकर आकाश तक एक से स्वभाव वाले हैं। यह बात नहीं है कि आकाश नित्य हो और दीपक अनित्य हो। अतः कोई भी वस्तु इस स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करती क्योंकि सब पर स्याद्वाद या अनेकान्तवाद भाव की छाप लगी हुई है। जिन आज्ञा के द्वेषी ही ऐसा कहते हैं कि अमुक वस्तु नित्य ही है और अमुक वस्तु अनित्य ही है।'<sup>१</sup>

न्याय या तर्कशास्त्र का मुख्य अङ्ग प्रमाण है। जैनदर्शन में न्याय को समझाने के लिए प्रमाण की विस्तृत व्याख्या की गई है। माणिक्यनन्दीकृत परीक्षामुख (१५० ई०) भी इससे अछूता नहीं है। माणिक्यनन्दी ने अपने सूत्रग्रन्थ को न्यायशास्त्र की दृष्टि से प्रणीत किया है। इसी तथ्य को केन्द्र में रखकर हम प्रमाण के लक्षणों का विवेचन इस आलेख में कर रहे हैं।

प्रमाण के स्वरूप के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में मुख्य रूप से दो दृष्टियाँ उपलब्ध होती हैं— प्रथम, ज्ञान को प्रमाण मानने वाली दृष्टि एवं दूसरी इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानने वाली दृष्टि। जैन और बौद्ध ये दोनों दर्शन ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। दोनों में मात्र इतना अन्तर है कि जैनदर्शन में सविकल्प ज्ञान को प्रमाण मानते हैं और बौद्ध दर्शन में निर्विकल्प ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। दूसरी परम्पराएँ न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक आदि सभी किसी न किसी रूप में इन्द्रियादि

५२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

को प्रमाण मानती हैं अर्थात् इन परम्पराओं में ज्ञान के कारण को प्रमाण माना गया है और ज्ञान को उसका फल।

### प्रमाण का लक्षण

परीक्षामुख में आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाण का लक्षण बताते हुए कहा है— 'स्व' अर्थात् अपने आप को और 'अपूर्वार्थ' अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है, ऐसे पदार्थ का निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।<sup>९</sup>

जैन वाङ्मय में आचार्य माणिक्यनन्दी से पूर्व आगमिक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द (२ शती), उमास्वाति (३-४ शती) और यतिवृषभ आदि ने ज्ञान को ही प्रमाण के रूप में निरूपित किया है। आगमिक परम्परा के पश्चात् जैन दार्शनिक परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र (५-६वीं शती) ने आप्तमीमांसा में युगपत् सर्व के अवभासन रूप तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहकर स्याद्वाद नय से संस्कारित क्रमभावि ज्ञान को भी प्रमाण कहा है।<sup>१०</sup> अकलंकदेव (६८० ई०) ने कहीं अर्थ को ग्रहण करने वाले व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा।<sup>११</sup> और कहीं अनधिगतार्थक अविश्ववादी ज्ञान को प्रमाण कहा।<sup>१२</sup> आचार्य सिद्धसेन (५-६वीं शती) ने बाधारहित स्वपरावभासी ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>१३</sup> आचार्य विद्यानन्द (८५० ई०) ने तत्त्वज्ञान को स्वार्थव्यवसायात्मक कहा है।<sup>१४</sup> तथा इसे अविश्ववादी ज्ञान कहा है।<sup>१५</sup> अभिनवभूषण<sup>१६</sup> ने सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहा है।<sup>१७</sup>

### प्रमाण का स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक तत्त्वज्ञान लक्षण

वैदिक दर्शन ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते, किन्तु जिन कारणों से ज्ञान पैदा होता है उन कारणों को प्रमाण मानते हैं और ज्ञान को प्रमाण का फल मानते हैं। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने 'उपलब्धि' के साधनों को प्रमाण कहा है।<sup>१८</sup> इसकी व्याख्या करने वालों में मतभेद है। सांख्य इन्द्रियों की विषयाकार परिणति रूप वृत्ति को प्रमाण मानते हैं।<sup>१९</sup> भाट्ट प्रभाकर<sup>२०</sup> ज्ञातृ-व्यापार को प्रमाण मानते हैं। बौद्ध यद्यपि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं किन्तु वे निर्विकल्प ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। इन सब विरोधी स्वरूपों का तद्विषयक समन्वय जैनदर्शन में हुआ है। सम्भवतः इन्हीं मतों को ध्यान में रखकर आचार्य विद्यानन्द ने अपने पूर्वाचार्यों के लक्षण को दृष्टि में रखकर प्रमाण का यह लक्षण स्थिर किया— 'अपना और पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है।'<sup>२१</sup>

यहाँ पर जो स्वार्थव्यवसायात्मक रूप तत्त्वज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहा गया है, उसमें ज्ञान को प्रमाण कहा जाना आगमिक परम्परा का अनुसरण है और ज्ञान के साथ 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग आचार्य समन्तभद्र से आया प्रतीत होता है क्योंकि युक्त्यनुशासनालंकार

में 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं स्यादिति वचनात्' के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में वाच्य को उद्धृत किया गया है। समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के 'अवभास' पद और इन्हीं के स्वयम्भूस्तोत्र तथा सिद्धसेन के न्यायावतार के 'स्वपरावभासी' पद के स्थान पर परीक्षामुख में 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक' पद का प्रयोग किया है। जैन परम्परा में सर्वप्रथम व्यवसायात्मक पद अकलंकदेव से आया क्योंकि जैन परम्परा में सर्वप्रथम व्यवसायात्मक पद का प्रयोग उनके लघीयस्त्रय में ही दृष्टिगोचर होता है, जिसका प्रयोग उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों में भी किया है तथा उत्तरवर्ती जैन परम्परा में सर्वत्र बहुमान के साथ यह पद प्रयोग किया गया है।

परीक्षामुख के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्रमाण के लक्षणों के रूप में 'व्यवसायात्मक' पद का ही प्रयोग देखने को मिलता है। किन्तु आचार्य प्रवर माणिक्यनन्दी ने प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' शब्द को स्थान देकर कहा है 'स्व' अर्थात् अपने आप को और 'अपूर्वार्थ' अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है, ऐसे पदार्थ का निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।<sup>१०</sup>

प्रमाण के इस लक्षण में अपूर्व पद की वृद्धि क्यों हुई, यह बिन्दु अवश्य विचारणीय है, क्योंकि जहाँ प्रमाण के 'अपूर्व' पद रहित लक्षण के सम्बन्ध में सभी जैन नैयायिकों का एक मत है तो वहाँ 'अपूर्व' पद के सम्बन्ध में मतभेद क्यों? सम्भवतः अपूर्व रूपी यह संशय उपस्थित हो जाए इसलिए इसे इस तरह समझ सकते हैं—

प्रमाण का मूल आधार तो ज्ञान ही है, अतः प्रमाण के साथ ज्ञान को रखा है। ज्ञान का प्रयत्न कैसा हो? यह बतलाने के लिए पहले 'व्यवसायात्मक' पद रखा है। ज्ञान के प्रयत्न का विषय कहीं कल्पनालोक न बन सके, वस्तु जगत् रहे, इसके लिए व्यवसाय के पूर्व 'अर्थ' पद दिया गया है। ज्ञान का विषय वस्तु जगत् होने पर भी कहीं उसमें पिष्टपेषण न होता रहे, अतः इस दोष से बचने के लिए 'अपूर्व' शब्द रखा है। बाह्य वस्तु जगत् की खोज में स्वयं न खो जाए, बाह्य जानकारी के मोह में कहीं स्वयं से ही अनजान न रह जाए। 'स्व' भी एक वस्तु है। अतः सर्वप्रथम उसका भी ज्ञान होना आवश्यक है, इसीलिए सूत्र के आदि में ही 'स्व' पद रखा है। जैनदर्शन में इस पद का अत्यधिक महत्त्व है। 'स्व' के ज्ञान बिना उत्पन्न हुआ ज्ञान 'प्रमाण' की कोटि में ही नहीं रखा जा सकता है। अतः 'स्व' शब्द सूत्र का सिरमौर है।

इस तरह सूत्र का प्रत्येक शब्द सार्थक व परमत का खण्डन करने में सक्षम है। इसमें ज्ञान पद तो नैयायिकों के सन्निकर्ष व वैशेषिकों के कारक-साकल्यवाद का खण्डन करता है। 'व्यवसायात्मक' बौद्धों के निर्विकल्पवाद का तथा 'अर्थ' पद विज्ञानाद्वैतवाद, 'अपूर्व' पद धारावाहिक ज्ञान तथा 'स्व' पद से ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने वाले मीमांसक तथा

अन्य ज्ञान से उसे ग्राहक मानने वाले नैयायिकों के कारकसाकल्य व वैशेषिकों के सन्निकर्षवाद का खण्डन करके प्रत्येक पद स्वतः सक्षम सिद्ध होता है।

जैन दार्शनिकों में भी धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर दो विचारधारा पायी जाती है। एक विचारधारा के अनुसार अपूर्व अर्थ का ग्राही प्रमाण है, अतः धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु अपूर्व से सर्वथा अपूर्व न लेकर कथंचित् अपूर्व लेना चाहिए। इनकी मान्यता है कि प्रथम ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में प्रवृत्त हुआ, उत्तर ज्ञान यदि उससे कुछ विशेष जानता है तो वह प्रमाण ही है।<sup>११</sup>

दूसरी विचारधारा के अनुसार 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान' प्रमाण है। इसी लक्षण में ही सभी तथ्य समाविष्ट हो जाते हैं। अतः इसमें 'अपूर्व' विशेषण लगाना व्यर्थ है। धारावाहिक ज्ञान गृहीतग्राही हो अथवा अगृहीतग्राही हो। यदि वह 'स्वार्थ' का निश्चायक है तो प्रमाण है। यदि गृहीतग्राही होने से स्मृति प्रमाण नहीं है, तो धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकता है।<sup>१२</sup>

जैनदर्शन में पहली विचारधारा के प्रवर्तक अकलङ्कदेव ही प्रतीत होते हैं। यह विचारधारा बौद्धदर्शन से जैनदर्शन में प्रविष्ट हुई जान पड़ती है। अकलङ्कदेव की यह शैली रही है कि उन्होंने अन्य दर्शनों की समीक्षा करके अनेकान्त का पुट देकर उन्हें अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। अतः उन्होंने बौद्ध दर्शन के अनधिगताधिका लक्षण से एकान्तवाद को हटाकर उसमें अनेकान्तवाद को घटित किया है। अन्यथा अकलङ्कदेव भी अपूर्वार्थग्राही ज्ञान को प्रमाण मानने के पक्षधर नहीं हैं क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिक में उन्होंने खण्डन करते हुए लिखा है— 'प्रमाण का लक्षण अपूर्वार्थाधिगम सम्यक् नहीं है क्योंकि जैसे अन्धकार में रखे हुए पदार्थों को दीपक तत्काल ही प्रकाशित कर देता है, फिर भी बाद में उसे ही प्रकाश कहा जाता है, क्योंकि उस दीपक से ही उन पदार्थों की उपस्थिति का बोध होता है। इसी तरह ज्ञान भी उत्पन्न होते ही घटादि पदार्थों का अवभासक होकर प्रमाण से प्राप्त होकर भी 'प्रमाण' इस नाम को नहीं छोड़ता है। अतः वह अपूर्व-अपूर्व अर्थ का ही प्रकाशक है, तो ज्ञान भी दीपक की तरह प्रतिक्षण बदलता रहता है, अर्थात् अपूर्वार्थाधिगम लक्षण उसमें भी उपलब्ध रहता है। यह कहना खण्डित हो जाता है कि स्मृति की तरह पहले जाने हुए पदार्थ को पुनः-पुनः जानने वाला ज्ञान अप्रमाण है।<sup>१३</sup>

प्रमाण के लक्षण में माणिक्यनन्दी का 'अपूर्व' पद जैन आगम-साहित्य में एक विलक्षण कदम प्रतीत हुआ लगता है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अकलङ्कदेव भी प्रमाण के इस लक्षण 'अपूर्व' से परिचित थे किन्तु अपूर्व पद

वे स्वीकार नहीं कर सके। माणिक्यनन्दी से पूर्व के भी आचार्य इस लक्षण को आत्मसात नहीं कर सके। चूँकि यह अपूर्व पद जैन परम्परा के लिए नया था सम्भवतः इसी को ध्यान में रखकर माणिक्यनन्दी ने अपने अपूर्व पद को स्पष्ट करने के लिए दो सूत्र दिये— १. अनिश्रितोऽपूर्वार्थ<sup>१५</sup> और २. दृष्टोऽपि- समारोपात्तादृक्<sup>१६</sup>

अब क्रम से इन दोनों सूत्रों का विवेचन करेंगे—

**अनिश्रितोऽपूर्वार्थ** अर्थात् जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय न किया गया हो, वह अपूर्वार्थ कहलाता है।

धारावाहिक ज्ञान एक ही वस्तु को विषय बनाता रहता है, अतः वह अप्रमाण है। प्रमाण की प्रमाणता तो तभी कहलाएगी जब वह किसी भी प्रमाण के द्वारा न जानी गयी वस्तु को विषय बनाता हो।

यदि यह कहा जाये कि प्रत्यक्षादि के द्वारा जाने गए विषय में अनुमानादि प्रमाणों के प्रवृत्त होने पर वे अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि उनका विषय अपूर्वार्थ नहीं रहा, इस शङ्का का समाधान है कि प्रथम प्रमाण से ज्ञात प्रमाण में यदि विशेषता सहित अन्य ज्ञान प्रवृत्त होता है तो उसके लिए वह अपूर्वार्थ है। जैसे प्रथम प्रमाण से जाना कि यह 'मनुष्य' है, तो दूसरे प्रमाण से जाना कि यह स्त्री है या पुरुष, अथवा अमुक संज्ञा से संज्ञित अमुक स्त्री है या पुरुष, ऐसा विशेष रूप से जाना तो वह ज्ञान प्रमाण ही है। स्वरूप से अथवा विशेषरूप से जो निश्चित नहीं है, वह सम्पूर्ण पदार्थ अपूर्वार्थ है।

**दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्** अर्थात् पूर्व में देखे हुए पदार्थ में भी यदि समारोप अर्थात् संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय आ जाता है तो वह पदार्थ भी अपूर्वार्थ बन जाता है जैसे— पढ़ी हुई पुस्तक अनभ्यास से पुनः अपठित जैसी हो जाती है।

मीमांसादर्शन में प्रभाकर मत वाले सर्वथा अपूर्व अर्थ को ही प्रमाण का विषय मानते हैं। उनका खण्डन इस सूत्र में किया गया है। जैनदर्शन में प्रमाण के विषय में कथंचित् अपूर्वार्थता स्वीकृत है। इसी कारण व्याप्ति ज्ञान में ही प्रवृत्त अनुमान ज्ञान की भी प्रमाणता सिद्ध हो जाती है। ऐसे ही पूर्वार्थग्राही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि परोक्ष प्रमाणों में भी प्रमाणता सम्भव है। दूसरी तरह सर्वथा अपूर्वार्थग्राही मानने पर द्विचन्द्रादि का ज्ञान भी सत्य हो जाएगा, क्योंकि एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान तो अपूर्व विषयवाला है।

यदि कहा जाये कि केवलज्ञानी के ज्ञान ने त्रिकालवर्ती द्रव्य-गुण-पर्यायों को जब एक समय में ही विषय बना लिया तो उत्तरवर्ती ज्ञान कैसे गृहीतग्राही हुआ? प्रथम पल में जिन पदार्थों को वर्तमानवत् और भविष्य को भविष्यवत् जान रहा था, उत्तरकाल

५६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

में उत्तरवर्ती को वर्तमानवत् व पूर्ववर्ती वर्तमान को भूतकाल रूप में जान रहा है। अतः वह ज्ञान गृहीतग्राही नहीं है। वस्तु के परिणामन भेद से ज्ञान में भी प्रमेय भेद हो गया है। इसी कारण केवलज्ञान गृहीतग्राही नहीं है।

वस्तु में सामान्य-विशेषात्मक अनेक धर्म होते हैं, उनमें किसी गुण या धर्म का किसी प्रमाण के निश्चय होने पर भी दूसरे गुण या उसकी दूसरी पर्याय की अपेक्षा वह वस्तु दूसरे प्रमाण के लिए अपूर्वार्थ हो जाती है।

परीक्षामुख के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र 'दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'अनधिगत अर्थ को ही जानना प्रमाण का लक्षण नहीं है<sup>२६</sup>, क्योंकि वस्तु अधिगत हो या अनधिगत हो, यदि वह उसको निर्दोषरूप से जानता है तो वह दोषी नहीं है। शायद कोई पूछे कि जाने हुए अर्थ में ज्ञान क्या करता है तो उसे प्रमाण माना जाये? इसका उत्तर है कि विशिष्ट ज्ञान का जनक होने से उसे प्रमाण माना जाता है। जहाँ वह विशिष्ट जानकारी नहीं कराता है, वहाँ वह अप्रमाण है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यमाणिक्यनन्दी ने प्रमाण के लक्षण के रूप में 'अपूर्व' पद का समावेश कर जैन न्याय को एक नवीन दिशा प्रदान की। सम्भवतः प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अपूर्व' पद को जोड़कर आचार्य श्री ने जैनदर्शन में प्रतिपादित प्रमाण को अन्य भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित प्रमाण के तुल्य स्थापित करने का एक नूतन प्रयास किया है।

### सन्दर्भ

१. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। धर्माधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्त्तायाम्। नयानयौ दण्डनीत्याम्। बलाबले चेतासां हेतुभिरन्विक्षमाणा आन्वीक्षिकी लोकस्योपकरोति, व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति, प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति। प्रतीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता। - १-२, अर्थशास्त्र, कौटिल्य, सम्पा० आचार्य श्री विश्वनाथ शास्त्री (प्रथमभागस्य प्रथमं सम्पुटम्), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९१, पृ० १५७,
२. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति च तस्त्रो राजविद्याः। अधीयनोहान्वीक्षिकी कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति व्यसनेषु न विषीदयति नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम्।- ५६-५७, नीतिवाक्यामृतम्, श्री सोमदेव, पंचमं समुद्देशः, श्री दिगम्बर जैन विद्याग्रन्थ प्रकाशन समीति, जयपुर,

३. ७/४३, मनुस्मृति,
४. आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता, कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः शिष्टपालन दुष्टः निग्रहः। - श्लोक ६३, वही, नीतिवाक्यामृतम्, श्री सोमदेव, पंचम् समुद्देशः, श्री दिगम्बर जैन विद्याग्रन्थ प्रकाशन समीति, जयपुर,
५. इस्मातु चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहाय उपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्या पृथक् प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः। तेषां पृथग्वचमन्तरेण अध्यात्मविद्यामात्रमिदं स्याद् यथोपनिषदः। - १/१/१, न्यायभाष्य वात्स्यायन, चौखम्भा सिरीज, काशी,
६. आदीपमाव्योमसमस्वभावः स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु। तत्रित्यमेवैकमानित्यमन्यदिति त्वादाज्ञाद्विषतां प्रलापा।। श्लोक ५, स्याद्वादमञ्जरी, मल्लिषेण, अर्हत् प्रभाकर कार्यालय, पूना।
७. स्वार्थापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं। - १/१, परीक्षामुख, माणिक्यनन्दी, पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, पृ० १०,
८. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।। - कारिका १०१, आप्तमीमांसा, समन्तभद्र, उद्धृत आप्तमीमांसा दीपिका, प्रो० उदयचन्द्र जैन, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान प्रकाशन, वाराणसी, १९७४,
९. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्यग्राहकं मतम्। ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्य प्रामाण्यामश्नुते।।- कारिका ६०, लघीयस्त्रय विवृत्ति, आचार्य अकलंक, उद्धृत- लघीयस्त्रय, श्रीगणेशवर्णी, दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, ई० २०००,
१०. आप्तमीमांसा भाष्य, अष्टसहस्री के अन्तर्गत, आचार्य अकलंकदेव, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, कारिका ३६ की टीका,
११. प्रमाणं स्वपरभासि ज्ञानं बाधाविवर्जितम्। प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा, मेयविनिश्चयात्।। - कारिका १, न्यायावतार, आचार्य सिद्धसेन, उद्धृत- न्यायावतार मूल और श्री सिद्धर्षिगणिकी संस्कृत टीका का हिन्दी भाषानुवाद, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९७६,
१२. युक्त्यनुशासनालंकार, आचार्य विद्यानन्द, माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला समीति, बम्बई, कारिका १ की टीका, पृ० २,

५८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

१३. वही, कारिका ५९ की टीका, पृ० १५३,
१४. (अ) कार्ल एच० पॉटर ने इनका समय १६१० ई० माना है—  
Encyclopaedia of Indian Philosophy, Potter, Karl H, Motilal  
Banarasi Das Publishers P. V. Ltd.  
(ब) दरबारी लाल कोठिया ने इनका समय १३५८-१४१८ ई० माना है—  
जैनन्याय की भूमिका, दरबारी लाल कोठिया, जैनविद्या संस्थान, जयपुर,  
पृ० १२०
१५. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् – न्यायदीपिका, धर्मभूषण, उद्धृत- न्यायदीपिका  
कोठिया, दरबारी लाल, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, वाराणसी  
१९९८, पृ० ९,
१६. न्यायभाष्य, पृ० १८, काशी,
१७. असन्दिग्धाविपरीतानाधिगतविषया चित्तवृत्तिः, बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा-  
– कारिका ४, वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी सांख्य, उद्धृत सांख्यकारिका,  
डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ० ७०  
(भूमिका),
१८. न्यायमञ्जरी,
१९. स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं। – कारिका ७७, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,  
१/१०, टीका,
२०. स्वापूर्वार्थं व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं। – १/१, परीक्षामुख, जयपुर,
२१. आप्तमीमांसा भाष्य, कारिका १०१ की टीका, १/१, परीक्षामुख, जयपुर,  
प्रमेय कमलमार्तण्ड, श्री लाल मुसद्दीलाल जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, देहली,  
पृ० १६७-१७७,
२२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आचार्यविद्यानंद, १/१० की टीका, श्लोक ७८-  
७९
२३. तत्त्वार्थवार्तिक, आचार्य अकलङ्क, १/१२ की टीका
२४. परीक्षामुख, १/४, जयपुर, पृ० १३
२५. वही, पृ० १/५
२६. तत्र अनधिगतार्थधिगन्तृत्वमेव प्रमाणस्य लक्षणम्। – प्रमेयकमलमार्तण्ड,  
पृ० १६८, देहली

## कहकोसु (कथाकोश) में वर्णित राजनैतिक चिंतन

डॉ. (श्रीमती) दर्शना जैन

‘कहकोसु’ नामक कथाग्रन्थ मुनि श्रीचन्द्र (वि० ११-१२ शता०) द्वारा लिखा गया है जो भगवती-आराधना पर आधारित है। इसमें विविध धार्मिक कथाओं का समावेश है। कथाओं के प्रसंग से तत्कालीन राजनैतिक परिवेश की जो सूचनाएँ मिलती हैं उन्हें ही यहाँ चित्रित किया गया है।

— सम्पादक

### भूमिका

साहित्य समाज की वास्तविकता का प्रतीक है। जिस समय साहित्य लिखा जाता है तत्कालीन समाज में राज्याधिकार, उत्तरदायित्व, प्रजा में दण्ड व्यवस्था आदि का उल्लेख साहित्य में अवश्य होता है। कहकोसु एक जैन कथाग्रंथ है तथा भगवती आराधना पर आधारित है, इसमें विभिन्न कथाओं का वर्णन किया गया है।

कहकोसु नामक ग्रंथ के रचयिता मुनि श्रीचन्द्र हैं। यह कवि की द्वितीय कृति है। कवि श्रीचन्द्र ने अपना यह कथाग्रंथ चौलुक्य नरेश मूलराज के राज्यकाल में अणहिल्लपुर पाटन में समाप्त किया था। मूलराज सोलंकी ने सं० ९९८ में चावड़ावंशीय अपने मामा सामन्तसिंह को मारकर राज्य छीन लिया था और गुजरात की राजधानी पाटन अणहिलवाड़े की गद्दी पर बैठ गया था। इसने वि०सं० १०१७ से १०५२ तक राज्य किया था।

इसने धरणी वराह पर भी चढ़ाई की थी, तब उसने राष्ट्रकूट राजा धवल की शरण ली। धवल के वि०सं० १०५३ के शिलालेख से स्पष्ट है कि मूलराज सोलंकी चालुक्य राजा भीमदेव का पुत्र था, भीमदेव के तीन पुत्र थे, मूलराज, क्षेमराज और कर्ण। इनमें मूलराज का देहान्त अपने पिता भीमदेव के जीवन काल में ही हो गया था। अंतिम समय में क्षेमराज को राज्य देना चाहता परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। तब उसने कनिष्ठ पुत्र कर्ण को राज्य देकर सरस्वती नदी के तट पर स्थित मंडूकेश्वर में तपश्चरण किया। अतः श्रीचन्द्र ने अपना यह कथाकोश सन् ९९५ (वि०सं० १०५२) में या उसके एक-दो वर्ष पूर्व ही ई० सन् ९९३ में प्रणीत किया होगा।

सौराष्ट्र देश के अणहिलपुर में प्रसिद्ध प्राग्वट वंश के नीनान्वय कुल में समुत्पन्न सज्जनोत्तम सज्जन नाम का एक श्रावक था, जो धर्मात्मा था और मूलराज नृपेन्द्र की गोष्ठी में भाग लेता था। वह धर्म का एक आधार था। उसका कृष्ण नाम का एक पुत्र और जयन्ती नाम की एक पुत्री थी। वह धर्म कर्म में निरत, जनशिरोमणि और दानादि द्वारा चतुर्विध संघ का संयोजक था। उसकी राणू नामक पत्नी से तीन पुत्र और चार पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। वीजा, साहनपाल और साढदेव ये तीन पुत्र थे और श्री, शृंगारदेवी, सुन्दु और सोखू ये चार पुत्रियाँ थीं। इनमें से सुन्दु या सुन्दिका जैन धर्म के प्रचार एवं उद्धार में रुचि रखती थी। कृष्ण की संतान ने अपने कर्मक्षय हेतु कथाकोश की व्याख्या कराई। कर्ता ने भव्यों की प्रार्थना से पूर्व आचार्यों की रचना को श्रीचन्द्र के सम्मुख रखी थी। इसी कृष्ण श्रावक की प्रेरणा से कवि ने उक्त कथाकोश को बनाया था। प्रस्तुत ग्रंथ विक्रम की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है।<sup>१</sup>

मुनि श्रीचन्द्र ने कहकोसु की रचना के पूर्व भगवती आराधना की दो गाथायें उद्धृत की हैं। कथाओं का प्रारम्भिक परिचय एवं शीर्षक के बाद प्रायः भगवती आराधना की गाथाओं का भाग दिया है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने कथाकोश अथवा कहकोसु की प्रस्तावना में एक तालिका दी है,<sup>२</sup> जिसमें यह द्रष्टव्य है कि किस प्रकार विभिन्न कथायें क्रमशः भगवती आराधना की गाथाओं से संबंधित हैं। कई कथाओं में श्रीचन्द्र ने कहकोसु में भगवती आराधना का अनुसरण किया है। इस कहकोसु में ५३ संधियाँ हैं, जिनमें विविध व्रतों के अनुष्ठान द्वारा फल प्राप्त करने वालों की कथाओं का रोचक ढंग से संकलन किया गया है। कथाएँ सुन्दर और सुखद हैं। इस ग्रंथ की प्रत्येक सन्धि में कम से कम एक कथा अवश्य आई है। ये सभी कथाएँ धार्मिक और उपदेशप्रद हैं। कथाओं का उद्देश्य मनुष्य के हृदय में निर्वेग भाव जागृत कर वैराग्य की ओर अग्रसर करना है। कथाकोश में आई हुई कथाएँ तीर्थंकर महावीर के काल से गुरु परम्परा द्वारा निरन्तर चलती आ रही हैं।

अतः कहकोसु कथाग्रंथ में मुनि श्रीचंद्र ने भगवती आराधना तथा बृहत्कथा कोश से कथावस्तु ली है। इसीलिए राजनैतिक चित्रण में पौराणिक समाज पर राजनीति का प्रभाव आंशिक रूप से प्रतिबिम्बित होता है। कवि ने अपने समय में प्रचलित राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा राज्य के उत्तरदायित्व को अल्प ही चित्रित किया है। लेकिन इसके अनुशीलन से कुछ झलक तो अवश्य ही पाई जाती है। कहकोसु में चित्रित राजनैतिक जीवन की झांकी को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

## राजनीति

प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र को राजधर्म, राज्य शास्त्र, दण्डनीति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। भारत में राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की परम्परा भी बहुत प्राचीन रही है। आचार्य कौटिल्य तथा सोमदेव से बहुत पूर्व यहाँ अनेक राजनीतिशास्त्रकार हो चुके थे जिनके मतों का उल्लेख महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दक के नीतिशास्त्र तथा नीतिवाक्यामृतम् में उपलब्ध होता है। कहकोसु इन सबसे पृथक् एक कथा ग्रन्थ है। यहाँ जो कुछ यत्र-तत्र राजनीति विषयक उल्लेख है वह कथा कहानियों के रूप में उपलब्ध है। इसके अनुशीलन से तत्कालीन समाज में प्रचलित राजनीति का आभास मिलता है।

## जनपद व्यवस्था

भोगभूमि का अन्त होने पर, जब कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे तथा प्रजा के समक्ष आजीविका की समस्या उपस्थित हुई तो प्रजा महाराज ऋषभदेव के पास गई तथा निवेदन किया। ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, शिल्प, विद्या तथा वाणिज्य इन छः कर्मों की व्यवस्था की, इसके पश्चात् इन्द्र ने अयोध्या में जिनालयों एवं तदनन्तर जनपदों की व्यवस्था की। उन जनपदों के मध्य भाग में परिखा, धूलिसाल, कोटगोपुर तथा अट्टालकों से सुशोभित नगर, ग्राम, पुर, खेट, खर्वट, पट्टन आदि की रचना की। अतः प्रतीत होता है कि जनपद नगर में, नगर ग्राम में, ग्राम पुर में, पुर खेट में तथा खेट खर्वट में विभाजित थे।<sup>३</sup>

## राजतन्त्र

मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व भारत में एक परम्परा प्रचलित थी जिसके अनुसार प्रजातन्त्र का विकास राजतन्त्र के बाद माना जाता था। पुराणों में बुद्ध के पूर्व की जो राजवंशावली है उससे प्रकट होता है कि छठी शताब्दी के मद्र, कुरु, पांचाल, शिवि और विदेह गणतन्त्र पहले नृपतन्त्र ही थे। जन सामान्य का सहज आकर्षण प्रभावी राजतन्त्र की ओर ही था। यही कारण है कि ऋग्वेद से आरम्भ हुई शासनतन्त्र की यात्रा महाजनपद से जनपद होती हुई पुनः नृपतन्त्र या राजतन्त्र में परिवर्तित होती गई। जैन सूत्रों में गणतन्त्रात्मक पद्धति के प्रति दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण दिखाई देता है किन्तु यथार्थ में प्रबल आकर्षण सबल राजतन्त्र की ओर ही था।<sup>४</sup> कहकोसु में दृष्टान्तों के माध्यम से राजतन्त्र को महत्ता भी दी गई है।

## सप्तांग राज्य

राज्य के मुख्य रूप से सात अंग माने गये हैं। सात अंगों के परिपूर्ण होने पर ही राज्य सुचारू रूप से चलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में राज्य के सात अंग माने हैं—<sup>५</sup>

१. स्वामी, २. अमात्य, ३. राष्ट्र, ४. दुर्ग, ५. दण्ड, ६. कोश एवं ७. मित्र।

इन सातों में मित्र का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। सुवर्ण और भूमि के लाभ से भी मित्र की प्राप्ति अधिक महत्त्वपूर्ण मानी गई है क्योंकि राजा को उसका सच्चा मित्र सदा सच्चा मार्ग दिखाता है और सदैव अहित व हित की बात बताता है।

## स्वामी/राजा

दीप्त्यर्थक राजृ धातु में कनिन् प्रत्यय के योग से राजन् शब्द की निष्पत्ति होती है और इसका शाब्दिक अर्थ दीप्यमान, प्रकाशमान अथवा प्रतापवान होता है।

समाज में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए, वर्ण संकरता को रोकने के लिए तथा लोकमर्यादा की रक्षा के लिए राजा की परम आवश्यकता थी। मनुस्मृति के अनुसार सम्पूर्ण सम्प्रभुता राजा में ही निहित है।<sup>६</sup> सोमदेव के अनुसार राजा के लिए पराक्रम, सदाचार तथा राजनीतिक ज्ञान तीनों ही बातें राज्य को स्थायी बनाने के लिए परम आवश्यक हैं।<sup>७</sup> अन्य भारतीय परम्पराओं के समान ही जैन परम्परा भी राजा के श्रेष्ठ वंश की कुल परम्परा को महत्त्वपूर्ण मानती है। यद्यपि जैन दृष्टि जाति के विरुद्ध थी तथापि ब्राह्मण परम्परा के अनुकूल इसमें भी राजा के क्षत्रिय कुलोत्पन्न होने का विधान था। स्वयं भगवान् महावीर ज्ञातृक नामक क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे। क्षत्रिय राजा का जातिमान होना आवश्यक था।<sup>८</sup>

हरिवंशपुराण में राजा के लिए भूप, नराधीश, क्षत्रिय, नायक, राजन्, महाराज, क्षितीश्वर, क्षितिभृत, नृप, नरेश्वर, अधिपति, प्रजाति इत्यादि पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं।<sup>९</sup>

राजा को उत्तम लक्षणों से युक्त होना चाहिए। उसे स्वर से सुस्वर, गम्भीर, एक हजार आठ लक्षणों से युक्त, ऋषिगोत्र का धारक, वज्रऋषभ-नाराच-संहनन तथा मछली के उदर के समान कोमल उदर वाला होना चाहिए।<sup>१०</sup>

कहकोसु की कथावस्तु राजपरिवार से भी सम्बन्धित है तथा इसमें राजा धनसेन, चक्रवर्ती भरत, राजा श्रेणिक, राजा महापद्म तथा पद्म, राजा महाबल, राजा विशाखदत्त आदि अनेक राजाओं की श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का उल्लेख है।<sup>११</sup> राजा

जगत् का पति, अत्यन्त शोभायमान परिपाटी का पालन करने वाला, सम्पत्ति को प्राप्त करने वाला, सुवर्ण की निधि से युक्त, देदीप्यमान रत्नों के खजानों से युक्त, पृथ्वी के वैभव का कारण, नगरों के हर्ष का कारण, प्रजा हितकारी, चौसठ कलाओं का स्वामी, दोनों का हितैषी तथा शत्रुओं का अधिपति होता है। काव्य के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि महाबलादि राजाओं में ये गुण पूर्णरूप से व्याप्त थे। राजा महाबल अत्यन्त धैर्यशाली, उदार, प्रजा की रक्षा में समर्थ एवं समस्त गुणों का संकेत भवन या एकत्र मिलने का स्थान था।

### राजा के कर्तव्य

जैन सूत्रों में राजा के कर्तव्यों के विषय में उल्लेख आता है कि वह सोना, चाँदी, मणि, वस्त्र, वाहन, कोष और भण्डार की वृद्धि करे। भूमि का विस्तार करे, पशु और धान्य की वृद्धि करे। राजा को पुर, जपनद, राजधानी, सेवा और अन्तःपुर का स्वामी तथा रक्षक होना चाहिए।<sup>१२</sup>

### राजा का उत्तराधिकार

साधारणतया राजतंत्र वंशानुगत ही था। उत्तराधिकार वंश परम्परागत था तथा ज्येष्ठता का नियम प्रधान माना जाता था अर्थात् राजा की मृत्यु अथवा उसके राज्य का त्याग करने के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था। कहकोसु में उल्लेख आता है कि महापद्म राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र पद्म को राजा बनाया। कहकोसु में यह भी उल्लेख आता है कि यशोधर राजा के द्वारा ज्येष्ठ पुत्र अनन्तवीर्य और श्रीधर को राज्य दिया गया परन्तु दोनों पुत्रों के द्वारा राज्य अस्वीकार करने पर लघु पुत्र प्रियचन्द्र को राजा बनाया। यह उल्लेख इस बात का द्योतक है कि ज्येष्ठ पुत्र द्वारा राज्य अस्वीकार किये जाने पर कनिष्ठ पुत्र भी राजा बन सकता है।<sup>१३</sup>

### मंत्रिमंडल (अमात्य)

राज्य की सप्त प्रकृतियों में राजा के पश्चात् द्वितीय स्थान मंत्रियों को दिया जाता है। मंत्रियों के सत्परामर्श पर ही राज्य का विकास, उन्नति एवं स्थायित्व निर्भर है। साधारण कार्यों में भी एक व्यक्ति की अपेक्षा दो व्यक्तियों का विचार करना श्रेष्ठ माना जाता है फिर राजकार्य तो बहुत जटिल होते हैं तब उसे अकेला राजा किस प्रकार कर सकता है। सोमदेव ने मंत्रियों या अमात्यों को राज्य-शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका मानना है कि जिस प्रकार रथ का एक चक्र दूसरे चक्र की सहायता के बिना घूम नहीं सकता उसी प्रकार अकेला राजा भी अमात्यों की सहायता

के बिना राज्य रूपी रथ का संचालन नहीं कर सकता।<sup>१४</sup> शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही दक्ष क्यों न हो फिर भी उसे मंत्रियों की सलाह के बिना किसी भी विषय पर विचार नहीं करना चाहिए।<sup>१५</sup> राजा मंत्री की आंखों से देखता है अर्थात् उनकी दृष्टि से अपनी नीति निर्धारित करता है।

अमात्य की योग्यता के सम्बन्ध में बताया गया है कि कुलीन, श्रुति सम्पन्न, पवित्र, अनुरागी, वीर, धीर, निरोग, नीतिशास्त्र में पण्डित, प्रगल्भ, वाग्मी, प्राज्ञ, राग-द्वेष से रहित, सत्यसन्ध, महात्मा, दृढ़ चित्त वाला, प्रजा का प्रिय तथा दक्ष होना चाहिए।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि अमात्य की नियुक्ति अपने देश में उत्पन्न हुए, कुलीन प्रगल्भ और पवित्र व्यक्ति की होनी चाहिए।<sup>१६</sup> मनु के अनुसार मंत्री परिषद् के सदस्य सात या आठ होने चाहिए तथा आदिपुराण में उल्लेख है कि मंत्री परिषद् में कम से कम चार तथा अधिक से अधिक सात मंत्री होते थे।<sup>१७</sup> कहकोसु में उल्लेख आता है कि राजा श्रीधर्म के बालि, नमुचि, प्रह्लाद, बृहस्पति नाम के चार मंत्री थे। इससे प्रतीत होता है कि कम से कम चार मंत्री तो होते ही थे तथा चार से अधिक होते थे या नहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता।<sup>१८</sup>

मंत्री सदैव प्रजा हित व राज्य हित में परामर्श देते थे। कहकोसु में संधि दस में राज्य में राजा के अभाव में मंत्री ने ही मुनि श्रीधर को समझाकर पुनः राजा बनने में हितकारी भूमिका निभाई थी। कहकोसु में यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि मंत्री यदि राज्यहित के अलावा राजा के धर्म से द्वेष करने वाला है तो वह राजा को सदैव अपने धर्म की ओर उन्मुख करने का प्रयास करता है। उदाहरण स्वरूप वात्सल्य अंग की कथा में श्रीधर्म राजा को चारों मंत्री अपने वैष्णव धर्म की ओर आकृष्ट करने का सतत प्रयास करते रहे और इस हेतु राजा को जैनधर्म से विद्वेष करने वाली बातें बताते रहे। राजा को सदैव दूसरे पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। सदैव दूसरे पर निर्भर रहने पर मंत्रियों के द्वारा राजा पद्म के समान छल से राज्य-सत्ता समाप्त की जा सकती है।<sup>१९</sup>

## राष्ट्र/राज्य

राज्य के सप्तांगों में राष्ट्र या राज्य का तृतीय स्थान है। वर्णाश्रम, धन्य, सुवर्ण, पशु, तांबा, लोहा आदि धातुओं से युक्त पृथ्वी को राज्य कहते हैं।<sup>२०</sup> याज्ञवल्क्य के अनुसार 'राजा के राष्ट्र की समृद्धि इसकी मिट्टी के गुणों पर निर्भर रहती है, राष्ट्र-समृद्धि से राजा की समृद्धि होती है, अतः राजा को चाहिए वह समृद्धि के लिए अच्छे गुणों से युक्त ऐसी भूमि का चुनाव करे जिसमें प्रचुर अन्न उपजे, जहाँ खनिज हो, जहाँ

व्यापार हो सके, खानों तथा अन्य वस्तुओं की भरमार हो, पशुपालन हो सके, प्रचुर जल हो, सुसंस्कृत व्यक्ति रहते हों, जंगल हों, जल-स्थल के मार्ग हों एवं जहाँ केवल वर्षा के जल पर निर्भर न रहना पड़े।<sup>२१</sup> प्रत्येक राज्य जनपदों में विभक्त थे जनपद नगर, ग्राम, पुर, खेत तथा खर्वट में विभक्त था।

## दुर्ग

प्राचीन भारत में सुरक्षा की दृष्टि से दुर्ग की विशेष महत्ता थी। शत्रुभय तो स्वभाविक ही था। उससे बचने के साधन दुर्ग ही थे क्योंकि दुर्गों में अपार धन, अन्न-राशि और जीवन की उपयोगी अन्य वस्तुओं को सुलभतापूर्वक गुप्त रखा जा सकता था। दुर्गों के माध्यम से राजा को अपनी सुरक्षा, प्रजा और कोष की रक्षा भी हो जाती थी। अतएव यह आवश्यक समझा जाता था कि दुर्ग, जो आरक्षण प्रदान करते हैं, उन्हें भी आरक्षित स्थानों पर ही बनाया जाए।

कहकोसु में उल्लेख आता है कि राजा हरिषेण ने दिग्विजय के समय पर्वतीय दुर्गों को लांघा जिससे प्रतीत होता है कि दुर्ग नगर की सीमा पर पर्वतीय क्षेत्र में बनाये जाते थे।<sup>२२</sup> इन दुर्गों को राजा के मित्रों की संज्ञा दी जाती थी क्योंकि ये राजा तथा राज्य के सब अंगों को अपने अंचल में छिपा उनकी रक्षा करते थे।

## कोश

राष्ट्र रक्षा के साधनों में कोश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना धन के राजा के सामने अनेक विपत्तियाँ आ जाती थीं। जिस प्रकार पानी के अभाव में गर्मी में नदी के सूख जाने से सम्पूर्ण हरियाली नष्ट हो जाती है उसी प्रकार धन का प्रवाह रुक जाने से राष्ट्र की खुशहाली समाप्त हो जाती थी। कहकोसु में वात्सल्य अंग की कथा में चारों मंत्रियों द्वारा राजा पद्म के कोश का दान करने से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में कोश एकत्र किया जाता था तथा समय आने पर उस कोश का सदुपयोग किया जाता था।<sup>२३</sup>

## पुरोहित

राज्य की रक्षा तथा धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए पुरोहित का होना आवश्यक माना जाता था। शुक्रनीति में कहा गया है कि मन्त्र और अनुष्ठान में सम्पन्न वेदत्रयी का ज्ञाता, कर्म-तत्पर, जितेन्द्रिय, जितक्रोध, लोभ तथा मोह से रहित, वेदों के षडंगो का ज्ञाता, धनुर्विद्या तथा धर्म का ज्ञाता स्व तथा पर राष्ट्रनीति का अभिज्ञ पुरोहित होता है।<sup>२४</sup> राजा के १४ रत्नों में से एक रत्न पुरोहित था।

अर्थशास्त्र में चाणक्य लिखते हैं- आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे जिस प्रकार भृत्य चलता है उसी प्रकार राजा को पुरोहित का अनुगामी होना चाहिए। राजा प्रत्येक राजनीतिक तथा धार्मिक कार्य पुरोहित की सलाह से करता था।<sup>२५</sup> कहकोसु में पुरोहित के वर्णन के लिए शिवभूति ब्राह्मण का नामोल्लेख होता है। शिवभूति ब्राह्मण राज्य में सभी मनुष्यों से श्रेष्ठ आचरण वाला था। परन्तु कल्लास मित्र की संगति के कारण वह राजा से दण्डित हुआ। इसी प्रकार वज्रकुमार की प्रभावना अंग की कथा में सोमदत्त के पिता रुद्रदत्त राजा के यहाँ पुरोहित कार्य करते थे तथा सोमदत्त का मामा सुभूति राजा का पुरोहित था। कहकोसु में पुरोहित कर्म की योग्यता के लिए सुकुमाल मुनि की कथा में सोमशर्मा के अग्निभूति एवं वायुभूति नामक पुत्रों को राजा ने पुरोहित कर्म के योग्य योग्यता दिखलाने के लिए कहा कि तुम्हें ज्योतिष विद्या का ज्ञान है, निमित्त शास्त्र जानते हो, पूजा आदि कार्य जानते हो इस प्रकार धनुर्विद्या, राजनीति, अर्थनीति आदि शास्त्रों के ज्ञाता होने के संकेत मिलते हैं।<sup>२६</sup> परन्तु दस संधियों में पुरोहित का नाम आया है जो राजा का विश्वसनीय होता है, पर उसके कार्य के विषय में जानकारी का अभाव है।

### दण्ड-व्यवस्था

भारत धर्म प्रधान देश के साथ ही कर्म प्रधान देश भी है। इसमें जितना महत्त्व धर्म को दिया जाता है, उतना ही महत्त्व कर्म को भी दिया जाता है। धर्म की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए पुण्य-पाप का विवेचन करके धार्मिक व्यक्तियों को पाप से बचने का निर्देश दिया है। परन्तु जो व्यक्ति धर्म से अनभिज्ञ है या धर्म में जिनकी आस्था नहीं है, उन व्यक्तियों के लिए भगवान् आदिनाथ ने सर्वप्रथम कर्म स्वरूप दण्ड का विधान किया। गलती करने वाले को पश्चात्ताप स्वरूप हा शब्द का विधान किया, जिसका अर्थ गलती को स्वीकार करना है। परन्तु मानव जब अपनी गलती को दुबारा करने लगा तो उसके लिए हा शब्द के साथ मा शब्द का प्रयोग भी होने लगा जिसका अर्थ नहीं करूँगा। इन दो दण्डों के प्रयोग के बाद भी जब मानव की प्रवृत्ति पाप कर्म से रहित नहीं हुई तो धिक् शब्द के द्वारा अपने को धिक्कार करने का दण्ड प्रचलित हुआ।<sup>२७</sup>

भगवान् आदिनाथ के पश्चात् भरत चक्रवर्ती भरतवर्ष का राजा हुआ। उसके समय में पाप कर्म की प्रवृत्ति अधिक होने लगी और पूर्व में निर्धारित दण्ड का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तब भरत ने उनके लिए शारीरिक दण्ड को सुचारु रूप से चलाया और व्यक्ति के मन, वचन, काय की क्रिया के अनुसार न्याय-अन्याय में विभक्त कर उसको दण्ड देने का विधान किया। भरत चक्रवर्ती ने धर्म और कर्म के अनुसार दण्ड का स्वरूप निर्धारित किया।

कहकोसु में वात्सल्य अंग की कथा में राजा श्रीधर्म के द्वारा चारों मंत्रियों को प्राणदण्ड की सजा दी जाती है परन्तु मुनि श्रुतसागर जी के द्वारा मना करने पर उन्हें मुँह काला करके देश निकाला दे दिया जाता है। इसी प्रकार व्यंजनहीन कथा, अर्थहीन कथा, व्यंजन-अर्थहीन कथा, व्यंजन अर्थ उभयशुद्धि कथा में राजा के द्वारा पाठक को अशुद्ध वाचन करने पर या अशुद्ध अर्थ बताने पर भिन्न-भिन्न दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार वारिषेण मुनि के कथानक में राजा श्रेणिक के द्वारा राजकुमार वारिषेण को चोरी के अपराध में मृत्युदण्ड की सजा दी जाती है परन्तु देवों द्वारा वारिषेण राजकुमार की रक्षा की जाती है। कल्लासमित्र की कथा में पुरोहित का शराब पीना सिद्ध होने पर राजा के द्वारा उसे देश निकाले की सजा दी जाती है।<sup>२८</sup> इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय में दण्ड का प्रावधान था।

### आर्थिक जीवन

अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य है। मनुष्य किस प्रकार आय प्राप्त करता है और उसे व्यय करके अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किस विधि के अनुसार करता हुआ सुख और कल्याण प्राप्त करता है, यह अर्थशास्त्र का अध्ययनीय विषय है।

आदिपुराण में आजीविका के प्रमुख छः साधनों का निर्देश पाया जाता है—

**असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च,  
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवन-हेतवः<sup>२९</sup>**

अर्थात् असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प— ये छः कार्य प्रजा की आजीविका के साधन हैं। कहकोसु में असि, शिल्प, विद्या, वाणिज्य के दृष्टांत ही दिये हैं मषि, और कृषि के दृष्टांतों का अभाव है।

### असि

असि कर्म मुख्यतः सैनिक वृत्ति है। सेना की नौकरी करते हुए आजीविका अर्जन करना असिवृत्ति के अन्तर्गत आता है। वर्णव्यवस्था में क्षत्रिय के कर्तव्य कर्म असि वृत्ति के अन्दर समाहित है।<sup>३०</sup> असिवृत्ति का कार्य उस क्षेत्र तक ही ग्राह्य है जिस क्षेत्र में समाज, धर्म, देश एवं राष्ट्र की रक्षा का सम्बन्ध रहता है जब असि कर्म उस क्षेत्र की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है उस समय त्याज्य हो जाता है। कहकोसु में युद्ध के लिए तैयार सैनिक तथा सेनापति, द्वारपाल असिवृत्ति से ही जीविका का अर्जन करते हैं। हरिषेण चक्रवर्ती की सेना में सैनिकों की संख्या को देखकर यह प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में सैनिक कर्म भी

६८ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

सम्माननीय कर्म समझा जाता था तथा व्यंजनहीन कथा, अर्थहीन कथा, व्यंजन अर्थ हीन कथा, व्यंजन अर्थ उभय शुद्धि कथा में भी राजा अपने शत्रु को जीतने के लिए सैनिकों को लेकर प्रयाण करता है।<sup>३१</sup> इससे भी यह ध्वनित होता है कि असि कर्म परम आवश्यक कर्म माना जाता था।

## विद्या

विद्या द्वारा आजीविका से तात्पर्य है कि कुछ लोग पठन-पाठन द्वारा आजीविका अर्जित करते थे। पुरोहित को इस वर्ग में रखा जा सकता था। कहकोसु में पठन-पाठन के द्वारा भी आजीविका का अर्जन करते थे। चण्डप्रद्योत राजकुमार को अध्ययन कराने के लिए कालसंदीव नामक आचार्य की नियुक्ति की गई थी तथा वीरसेन राजा के पुत्र सिंहरथ के अध्यापन के लिए राजा ने गर्ग नामक आचार्य की नियुक्ति की एवं वीरदत्त राजा ने अपने पुत्र के अध्ययन के लिए राजसेवकों को पत्र लिखा कि उसके पुत्र के अध्यापन की व्यवस्था कराई जाए।<sup>३२</sup> इस प्रकार पुराकाल में विद्या अध्यापन-अध्ययन से धन का अर्जन करके आजीविका उपलब्ध की जाती थी।

## वाणिज्य

व्यापार करना ही वाणिज्य है। जिस देश में कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य व्यवसायों की उन्नति न हो उस देश की आर्थिक उन्नति कभी नहीं हो सकती क्योंकि इन तीन पर ही देश की आर्थिक उन्नति निर्भर करती है। कहकोसु में उल्लेख आता है कि हरिदत्त व्यवसायी ने सोमदत्त मुनि से अपना कर्ज माँगा। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में व्यापार में लेनदेन में धन की उधारी होती थी। कहकोसु में मदिरापान का एवं मदिरा विक्रय का उल्लेख प्राप्त होता है। कल्लासमित्र की कथा में मदिरा व्यापारी पूर्णचंद्र का नामोल्लेख किया है।<sup>३३</sup> इससे प्रतीत होता है कि मदिरा का भी व्यापार किया जाता था। कहकोसु में व्यापारियों के नामोल्लेख में सूरदत्त वणिक् के पुत्र सूरमित्र और सूरचन्द्र नाम आते हैं जो व्यापार के उद्देश्य से विदेश गमन करते हैं और वहाँ पर व्यापार करके एक रत्न खरीदते हैं। इससे प्रतीत होता है कि व्यापार कर्म भी इस काल में प्रचलित था।

## शिल्प

आदिपुराण में 'शिल्पं स्यात्करकौशलम्' अर्थात् हस्तकौशल को शिल्पकर्म कहा गया है। हस्तकौशल के अन्तर्गत बढ़ई, लोहार, कुम्हार, चमार, सोनार आदि की उपयोगी कलाएँ तो सम्मिलित थीं ही पर चित्र बनाना तथा फूल-पत्ते काटना भी इसी

श्रेणी में परिगणित था।<sup>३४</sup> कहकोसु में बुद्धिमती की कथा में चित्रकार का वर्णन आता है जो श्रीचंद्र मुनि का चित्र अंकित करता है तथा व्यंजन अर्थहीन कथा में राजा महापद्म ने एक हजार स्तम्भ वाला जिनमंदिर बनवाने के लिए अपनी राजधानी में पत्र लिखा। यह भी इस बात का प्रतीत है कि इस काल में शिल्प के जानकार व्यक्ति थे। जिस कारण राजा ने मंदिर बनवाने का निर्णय लिया। महारानी चेलना का रत्नजटित हार चुराने का प्रसंग आता है इससे भी यह ध्वनित होता है कि रत्नजटित हार बनाने वाले कारीगर भी उस समय थे।<sup>३५</sup>

### निष्कर्ष

इस प्रकार इस लेख में राजनैतिक चिंतन के अंतर्गत राजा के कर्तव्यों तथा राजव्यवस्था के विषय में बताया गया है। कहकोसु के समय राज-व्यवस्था में व्यापार के क्या साधन थे? लोग अपनी आजीविका का अर्जन कैसे करते थे? इन सभी तथ्यों पर इस लेख में प्रकाश डाला गया है।

### सन्दर्भ

१. भगवती आराधना, भूमिका
२. कहकोसु, प्रस्तावना, पृ० ११
३. कहकोसु, संधि १-१०
४. जैन आगम इतिहास एवं संस्कृति, पृ० २७
५. **स्वाम्यमात्य जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ।**  
**मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्तंगमुच्यते ॥**  
याज्ञवल्क्यस्मृति, १/३५३
६. मनुस्मृति, ७/७
७. नीतिवाक्यामृतम्, ५/४१
८. उत्तराध्ययन, १८/२४, १/७
९. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७७
१०. उत्तराध्ययन, २२/५-१
११. कहकोसु, संधि १-१०
१२. उत्तराध्ययन, १८/७, ९/४९ ०
१३. कहकोसु, संधि ३, १०

७० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

१४. नीतिवाक्यामृतम्, १८/३
१५. सर्वविद्यासु कुशलो नृपो हृषि सुमंत्रवित् ।  
मंत्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तये। शुक्रनीति, २/२
१६. कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० २८
१७. आदिपुराण, ४/१९०
१८. कहकोसु, संधि ३
१९. कहकोसु, संधि ३, १०
२०. नीतिवाक्यामृतम्, ५/६
२१. रम्यं पशव्यमाजीव्यं जांगलं देशमावसेत् ,  
तत्र दुर्षाणि कुर्वीत् जनकोशात्मगुप्त्ये । याज्ञवल्क्यस्मृति, १/३२१
२२. कहकोसु, संधि ८
२३. कहकोसु, संधि ३
२४. शुक्रनीति, २/२
२५. अर्थशास्त्र, पृ० २९-३०
२६. कहकोसु, संधि-४, ७, २२
२७. आदिनाथपुराण, भाग-१, श्लोक २५०,
२८. कहकोसु, संधि ३, ४, ६, ७
२९. आदिपुराण, १६/१७९
३०. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३३८
३१. कहकोसु, संधि-६
३२. कहकोसु, संधि ६
३३. कहकोसु, संधि ५, ७
३४. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३४५
३६. कहकोसु, संधि ३, ५, ६

### प्रमुख सहायक ग्रंथ

१. अर्थशास्त्र, कौटिल्य, संपा० एल. एन. रंगाराजन, पैंगुन बुक इंडिया, नई दिल्ली, १९९२
२. आदिपुराण, जिनसेनाचार्य, संपा० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, १९८८

३. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, नेमिचन्द्र शास्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी
४. उत्तराध्ययनसूत्र, अनु०/सम्पा० राजेन्द्र मुनि शास्त्री, आगम साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९१
५. कहकोसु, मुनि श्रीचन्द्र, संपा० डॉ. हीरालाल शास्त्री, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी अहमदाबाद, १९६९
६. जैन आगम इतिहास एवं संस्कृति, रेखा चतुर्वेदी, अनामिका प्रकाशन एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, २०००
७. नीतिवाक्यामृतम्, सोमदेवसूरि, मा०दि०जैन, मुम्बई, वि० सं० १९७९
८. पुरुदेवचम्पू, कवि अर्हदास, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७३
९. भगवती आराधना, आचार्य शिवार्य, पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, २००५
१०. मनुस्मृति, आचार्य मनु, सम्पा० पं० रामतेजशास्त्री, पं० पुस्तकालय, काशी
११. याज्ञवल्क्यस्मृति, याज्ञवल्क्य, उमेश पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००३
१२. शुक्रनीति, महर्षि शुक्राचार्य, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, १९९९
१३. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. पी० सी० जैन, देवनागर प्रकाशन, जयपुर

\*\*\*

## जैनागमों में स्वप्न-विज्ञान

कु. मञ्जू जैन

इस आलेख में लेखिका ने श्वेताम्बर जैनागमों के आलोक में तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की माताओं द्वारा देखे जाने वाले स्वप्नों तथा उनके स्वप्नफलों की चर्चा की है। इस आलेख में यदि दिगम्बर-मान्यता तथा ज्योतिष ग्रन्थों के प्रमाण भी जोड़े जाते तो अच्छा होता, फिर भी प्रयास अच्छा है।

-सम्पादक

ज्ञातार्थकथा के मेघकुमार नामक अध्ययन में धारिणी के द्वारा देखे जाने वाले स्वप्न का विवेचन है। वह स्वप्न में अपने मुख में हाथी को प्रवेश करते हुए देखती है। अर्धनिद्रित अवस्था में मानव को स्वप्न आते हैं।<sup>१</sup> अष्टांगहृदय के अनुसार जब इन्द्रियाँ अपने विषय से निवृत्त होकर प्रशान्त हो जाती हैं और मन इन्द्रियों के विषयों में लगा रहता है तब वह स्वप्न देखता है। जैनदर्शनानुसार स्वप्न का मूल कारण दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय है। सिगमण्ड फ्रायड ने स्वप्न का अर्थ दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति कहा है। चार्ल्स युंग<sup>२</sup> स्वप्न को केवल अनुभव की प्रतिक्रिया नहीं मानते हैं। वे स्वप्न को मानव के व्यक्तित्व का विकास और भावी जीवन का द्योतक मानते हैं। फ्रायड और युंग के स्वप्न संबंधी विचारों में मुख्य अन्तर यह है कि फ्रायड यह मानता है कि अधिकांश स्वप्न मानव की कामवासना से संबंधित होते हैं जबकि युंग का मानना है कि स्वप्नों का कारण मानव के केवल वैयक्तिक अनुभव अथवा उसकी स्वार्थमयी इच्छाओं का दमन मात्र ही नहीं होता अपितु उसके गंभीरतम मन की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी होती हैं।

आचार्य जिनसेन ने<sup>३</sup> स्वस्थ अवस्था वाले और अस्वस्थ अवस्था वाले— ये दो प्रकार के स्वप्न माने हैं। आचार्य ने दोष-समुद्भव और देव-समुद्भव<sup>४</sup> इस प्रकार स्वप्न के दो भेद भी किये हैं। वात, पित्त, कफ, प्रभृति शारीरिक विकारों के कारण जो स्वप्न आते हैं वे दोषज हैं। इष्टदेव या मानसिक समाधि की स्थिति में आने वाले स्वप्न देव-समुद्भव कहलाते हैं। स्थानांग<sup>५</sup> व भगवती<sup>६</sup> में पाँच प्रकार के स्वप्नों का वर्णन है—

१. यथातथ्य स्वप्न - जो स्वप्न में देखा है जागने पर उसी तरह देखना, अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल, शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति।

२. प्रतान स्वप्न- विस्तार से देखना।
३. चिन्ता स्वप्न- मन में रही हुई चिन्ता को स्वप्न में देखना।
४. तद्विपरीत स्वप्न- स्वप्न में देखी हुई घटना का विपरीत प्रभाव।
५. अव्यक्त स्वप्न-स्वप्न में दिखाई देने वाली वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होना।

**स्वप्नों और महास्वप्नों की संख्या का निरूपण :** विशिष्ट स्वप्नों की संख्या बहतर बतलाई गई है। वैसे तो स्वप्न असंख्य प्रकार के हो सकते हैं किन्तु फलसूचक स्वप्नों की संख्या ७२ है तथा महत्तम फलसूचक स्वप्नों की संख्या ३० है ये ३० महास्वप्न कहलाते हैं।<sup>८</sup> महास्वप्न को देखने वाली महान् आत्माओं की माताएँ ही होती हैं।

**तीर्थकर की माताओं को दिखाई देने वाले स्वप्न<sup>९</sup>:** तीर्थकर बनने वाली आत्माएँ जब गर्भ में अवतरित होती हैं तब उनकी माताएँ चौदह महास्वप्न देखती हैं<sup>१०</sup> यथा-

१. उज्ज्वल वर्ण, पुष्ट स्कन्ध और बलिष्ठ शरीर वाला वृषभ देखना,
२. श्वेत वर्ण वाला, पर्वत के समान ऊँचा और चार दाँत वाला गजराज देखना,
३. केसरी सिंह, ४. लक्ष्मी देवी, ५. पुष्पमाला, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. महाध्वज,
९. स्वर्ण कलश, १०. पद्म-सरोवर, ११. क्षीर-समुद्र, १२. देव-विमान, १३. रत्नों का ढेर एवं १४. धूम रहित प्रकाशमान अग्नि।

ये महामंगलकारी स्वप्न दिखाई देते हैं। देवलोक से आने वाले तीर्थकर की मातायें ये स्वप्न देखती हैं परन्तु नरकों से जो आत्माएँ आती हैं उनकी मातायें देव-विमान के स्थान पर भवन का स्वप्न देखती हैं।<sup>११</sup>

उपरोक्त चौदह महास्वप्नों का फल<sup>१२</sup> :

१. वृषभ दर्शन से उत्पन्न होने वाला पुत्र मोह रूपी कीचड़ में फँसे हुए धर्म रूपी रथ का उद्धार करने वाला एवं लोकोत्तम, पराक्रमी होगा, २. हस्ति-दर्शन से पुत्र महत् पुरुषों का गुरु एवं महान् बलशाली होगा, ३. सिंह-दर्शन से उत्पन्न पुत्र पुरुषों में सिंह के समान निर्भय, शूरवीर, धीर व पराक्रमी होगा, ४. लक्ष्मी-दर्शन का फलितार्थ यह कि पुत्र तीन लोक की राज्यलक्ष्मी का स्वामी होगा, ५. पुष्पमाला से पुत्र पुण्य दर्शन वाला होगा एवं संसार के प्राणी माला के समान उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करेंगे, ६. चन्द्र-दर्शन से संकेत है कि पुत्र मनोहारी एवं आनंदकारी होगा।

७४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

७. सूर्य-दर्शन से संकेत मिलता है कि आने वाला पुत्र मोह एवं अज्ञानांधकार का नाश कर ज्ञान का प्रकाश करने वाला विश्वोत्तम महापुरुष होगा, ८. महाध्वज के स्वप्न से ज्ञात होता है कि गर्भस्थ आत्मा महान् पुण्यशाली, प्रतिष्ठित एवं यशस्वी होगी, ९. सभी प्रकार की विशेषताओं से परिपूर्ण पुत्र-प्राप्ति का संकेत पूर्णकलश से मिलता है, १०. पद्मसरोवर का अर्थ है कि पुत्र संसारी प्राणियों के पापरूपी ताप का हरण करके सभी को पवित्र एवं शीतल बनायेगा, ११. समुद्र-दर्शन का फलितार्थ है कि पुत्र समुद्र के समान गंभीर होगा, १२. विमान दर्शन का फल है कि पुत्र वैमानिक देवो से सेवित होगा, १३. रत्न-राशि यह बताती है कि वह महान् गुणों की खान होगा एवं १४. निर्धूम अग्नि का अंतिम स्वप्न यह संदेश दे रहा है कि पुत्र महातेजस्वी होगा।

चक्रवर्ती की मातायें भी उपर्युक्त चौदह स्वप्नों का दर्शन करती हैं। वासुदेव की मातायें इन चौदह में से कोई सात स्वप्न देखती हैं। बलदेव की मातायें चौदह में से किन्हीं चार स्वप्नों का दर्शन करती हैं एवं मांडलिक की मातायें यावत् इन चौदह महास्वप्नों में से कोई एक महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं।<sup>१३</sup>

**महावीर द्वारा देखे गये स्वप्न व उनका फल :**

छद्मावस्था की अंतिम रात्रि में महावीर जिन दस महास्वप्नों को देखकर जागृत हुए वे दस स्वप्न<sup>१४</sup> इस प्रकार हैं-

१. एक महाभयंकर और तेजस्वी रूप वाले ताड़ वृक्ष के समान लम्बे पिशाच को स्वप्न में पराजित किया।
२. श्वेत पंखों वाले एक महान् पुंस्कोकिल को देखा।
३. चित्र-विचित्र पंखों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखा।
४. सर्वरत्नमय एक महान् माला-युगल को देखा।
५. एक महान् गोवर्ग को देखा।
६. चारों ओर से पुष्पित एक महान् पद्मसरोवर को देखा।
७. महासागर को अपनी भुजाओं से धिरे हुए देखा।
८. स्वतेज से जाज्वल्यमान एक महान् दिवाकर को देखा।
९. विशाल मानुषोत्तर पर्वत को नील वैडूर्य मणि के समान अपनी आँतों में चारों ओर से आवेष्टित देखा।
१०. महान् मन्दर नामक सुमेरू पर्वत की मंदर चूलिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर स्वयं को बैठे हुए देखा।

**फल<sup>१५</sup> :**

१. प्रथम स्वप्न के फलस्वरूप महावीर ने महामोहनीय कर्म को समूल नष्ट किया।
२. दूसरे स्वप्न के फलस्वरूप श्रमण महावीर ने शुक्लध्यान प्राप्त करके विचरण किया।
३. विचित्र पंखों वाले पुंस्कोकिल के स्वप्न का फलितार्थ यह हुआ कि श्रमण महावीर ने स्वसमय-परसमय के विविध विचारों से युक्त द्वादशांग गणिपिटक का प्ररूपण किया।
४. चतुर्थ स्वप्न के फलस्वरूप महावीर ने सागर (गृहस्थ) व अणगार (साधु) धर्म को प्रज्ञप्त किया।
५. पाँचवें स्वप्न का फल यह है कि महावीर ने चतुर्विधसंघ रूपी तीर्थ की स्थापना की।
६. छठे स्वप्न का यह फल हुआ कि श्रमण महावीर ने चार प्रकार के देवों की प्ररूपणा की।
७. सातवें स्वप्न के फलस्वरूप महावीर ने अनादि-अनन्त संसार-सागर को पार किया।
८. आठवें स्वप्न के फलस्वरूप श्रमण महावीर को अनंत, अनुत्तर, निर्व्याधान्त प्रतिपूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हुई।
९. नवें स्वप्न के फलस्वरूप श्रमण महावीरस्वामी उदारकीर्ति, स्तुति, प्रशंसा व यश को प्राप्त हुए।
१०. दसवें स्वप्न का फल यह हुआ कि श्रमण महावीर ने देवों, मनुष्यों और असुरों की परिषदों के मध्य धर्मोपदेश दिया।

**राजा चन्द्रगुप्त द्वारा देखे गये सोलह स्वप्न व उनका फल<sup>१६</sup> :**

मगध राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में राजा चन्द्रगुप्त ने रात्रि के अंतिम प्रहर में अत्यन्त अनोखे व विचित्र से सोलह स्वप्न देखे, यथा-

१. प्रथम स्वप्न में कल्पवृक्ष की शाखा भंग होते हुए देखी।
२. द्वितीय स्वप्न में अकाल में अस्त होते हुए सूर्य को देखा।
३. छलनी जैसे छिद्रों से युक्त चंद्रमा देखा।
४. भूत-भूतनी को नाचते हुए देखा।

७६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

५. बारह फण वाला सर्प देखा।
६. देवविमान को वापस लौटते हुए देखा।
७. अशुचि स्थान पर कमल की उत्पत्ति देखी।
८. घोर अंधकार में जुगनू की भाँति चमकती-बुझती अग्नि देखी।
९. तीन दिशाओं में सूखा समुद्र देखा।
१०. दसवें स्वप्न में कुत्ते को सोने की थाली में खाते देखा।
११. ग्यारहवें स्वप्न में बंदर को हाथी के ऊपर बैठे हुए देखा।
१२. बारहवें स्वप्न में समुद्र को अपनी सीमाओं से बाहर जाते देखा।
१३. तेहरवें स्वप्न में देखा कि छोटे बछड़े बहुत भारी रथ को खींच रहे हैं।
१४. चौदहवें स्वप्न में मटमैली रत्न-राशि देखी।
१५. पन्द्रहवें स्वप्न में एक राजकुमार को पाड़े (भैंस के बच्चे) की सवारी करते देखा।
१६. अंतिम स्वप्न में बिना महावत के हाथियों को लड़ते देखा।

**फल :** श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने राजा चंद्रगुप्त के सोलह स्वप्नों को सुनकर कहा, “राजन् ! ये स्वप्न भविष्य में होने वाले घोर अनिष्ट के सूचक हैं।” उन्होंने ही अपने ज्ञानोपयोग से इन स्वप्नों का फल बतलाया—

१. पहले स्वप्न का तात्पर्य भविष्य में कोई भी राजा श्रमण दीक्षा ग्रहण नहीं करेगा।
२. दूसरे स्वप्न का फलितार्थ पाँचवे आरे में केवल ज्ञान नहीं होगा।
३. तीसरे स्वप्न के फलस्वरूप पंचम आरे में उज्ज्वल भावना वाले भी छिद्रान्वेषी होंगे।
४. चतुर्थ स्वप्न का फल यह होगा कि मिथ्यादृष्टि देवों, कुगुरु व कुधर्म की अधिक मान्यता होगी।
५. पाँचवें स्वप्न का तात्पर्य है कि आगत समय में बारहवर्षी भयंकर दुष्काल पड़ेंगे।
६. छठे स्वप्न का अर्थ बताया कि भरत क्षेत्र में देवताओं, विद्याधरों, चारण मुनियों तथा सम्पूर्ण लब्धियों का लोप हो जायेगा।
७. सातवें स्वप्न के अनुसार वणिक् धर्म होगा, मत अधिक होंगे, आपसी-खींचतान ज्यादा होगी।
८. चमकती-बुझती अग्नि दर्शन का मतलब धर्मोद्योत कम होगा, मिथ्या-आडम्बर अधिक होंगे।

९. नवें स्वप्नानुसार तीन दिशाओं में धर्मध्यान कम होता-होता सिर्फ दक्षिण में धर्मोद्योत होगा।
१०. दसवें स्वप्न का तात्पर्य बताया कि लक्ष्मी नीच कुलों में वास करेगी।
११. ग्यारहवें स्वप्न का फलितार्थ है कि मलेच्छ राजा राज्य करेंगे।
१२. बारहवें स्वप्न के फलस्वरूप छोटे-बड़ों की विनय नहीं करेंगे।
१३. तेरहवें स्वप्न के अनुसार जिनधर्म की बागडोर छोटे-छोटे बच्चे संभालेंगे।
१४. मटमैली रत्न-राशि के दर्शनानुसार भविष्य में चतुर्विध संघ में प्रेमभाव कम होता चला जायेगा।
१५. अधिकार मानव कुबुद्धि के होंगे, यह पन्द्रहवें स्वप्न का तात्पर्य है।
१६. अंतिम स्वप्न के फलस्वरूप भविष्य में समय पर वर्षा नहीं होगी।

### एक-दो भव में मुक्त होनेवाले आत्माओं को दिखने वाले स्वप्न-संकेत :

१. कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में एक महान् अश्वपंक्ति, गज-पंक्ति या वृषभ पंक्ति का अवलोकन करता हुआ देखे, उस पर चढ़ने का प्रयत्न करता हुआ चढ़े तथा स्वयं को उस पर चढ़ा हुआ माने, ऐसा देख तुरंत जागृत हो तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है।
२. कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में, समुद्र को दोनों ओर से छूती हुई, पूर्व से पश्चिम तक विस्तृत एक बड़ी रस्सी को देखने का प्रयत्न करता हुआ देखे, अपने दोनों हाथों से उसे समेटता हुआ समेटे, फिर अनुभव करे कि मैंने स्वयं रस्सी को समेट लिया है, ऐसा देखकर जागृत हो तो, वह उसी भव में सिद्ध होता है।

ऐसे ही चौदह स्वप्नों का उल्लेख भगवती सूत्र<sup>१७</sup> में मिलता है जो एक या दो भव करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होती हैं।

स्वप्न एवं स्वप्न के फल का विचार या चिन्तन साहित्य-जगत् में प्रारंभ से ही हुआ है, क्योंकि जो भी दिव्य पुरुष या दिव्य नारियाँ हुई हैं, उन्होंने जो स्वप्न देखे हैं वे शुभ हैं तो अच्छे परिणामों को दर्शाते रहे। अशुभ के संकेतों ने भी मानवीय जीवन को प्रभावित किया है। स्वप्न विज्ञान ज्योतिषीय दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इनका गणितीय आधार आगमों में दिया गया है। इन पर शोध आवश्यक है।

## सन्दर्भ

१. भगवती सूत्र, १६/६, पृ० ५६७
२. अष्टांगहृदय, निदान स्थान, ९
३. हिन्दी विश्वकोश खण्ड-१२, पृ० २६४
४. महापुराण, ४१-५९/६०
५. वही, सर्ग, ४१/६१
६. स्थानांगसूत्र, ५
७. भगवतीसूत्र, १६/६
८. भगवतीसूत्र, १६/६ पृ० ५७० (क) भगवती० अभयदेवसूरि वृत्ति, पत्र ७११
९. भगवती (हिन्दी विवेचन), भा० ५, पृ० २५५८
१०. डोशी, रतनलालः, तीर्थकर चरित्र, भाग-१, पृ० २९
११. वही, भाग-१, पृ० ३०-३१
१२. दिगम्बर परम्परा में १६ स्वप्न देखती है  
ये स्वप्न हैं- १. लीलामय गति से गिरीन्द्र के समान मदोन्मत्त (ऐरावत) हाथी, २. दुन्दुभि के समान शब्द करता बैल, ३. सिंह, ४. युगल माला, ५. गजाभिषिक्त लक्ष्मी, ६. पूर्णचन्द्र, ७. सूर्य, ८. युगल कलश, ९. युगल मीन, १०. सरोवर, ११. समुद्र, १२. सिंहासन, १३. देव-विमान, १४. नागेन्द्र-भवन, १५. रत्नराशि, १६. निर्धूम अग्नि- जैन पुराणकोश, जैनविद्यासंस्थान, राजस्थान, पृ० ४७३ एवं वर्धमान जीवन-कोश, जैनदर्शन समिति, कलकत्ता, पृ० १४९
१३. वियाहपण्णत्तिसुत्त, भा० २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ० ७६२-७६३
१४. भगवती सूत्र, युवाचार्य मुनि मधुकर : १६/६, पृ० ५७२
१५. वही, पृ० ५७३-५७४
१६. डॉ० मुनि पदम, बडी साधुवंदना प्रवचन, पृ० ३०७-३१६ (क) देखें आचार्य जयमल जी म.सा. की कृति 'चंद्रगुप्त के सोलह सपने
१७. भगवतीसूत्र, १६/६, पृ० ५७५

## Aparigraha as Reflected in Jaina Art

Prof. Maruti Nandan Prasad Tiwari

*The reverence for peace and purity was uppermost in the Jaina consciousness. Only the highest point of spiritual attainment was sought to be reflected in art. Among these spiritual goals is the state of aparigraha, with its various nuances of 'freedom from attachment', both internal and external. In this paper author has based his discussion of aparigraha as manifested in art to the three main subjects of the sculptures: the Jinas, Bāhubali and Bharatamuni.*

*-Editor*

Art is the living visual account of our tradition, including the concepts in religion and philosophy that prevail during an epoch in society. And yet, while discussing religion, philosophy or culture, we tend to take into account only literature as the main narrative and miss out the artistic creations of temple and sculpture and painting, or the other forms embodying the spirit of the time. As V.S. Agrawala points out, "Indian art is the mirror of the thought, religion, philosophy, cults and culture of India. It is a rich commentary on the life of the Indian people. How they worshipped and what they created on the plane of matter is documented in creations of Indian art." Art was intricately woven into the life of the land, never standing apart, and yet capable of reflecting values, ideals and concerns without comment.

In the Jaina context, art has been the main vehicle for the wide and dynamic expression of Jaina spirituality: the absolute renunciation of all possessiveness, and the ideals of non-violence and austerity. An important and unique character of Jaina art and thought was that the artists never compromised on the basic tenets of their creed. These tenets found idealistic expression in their image of the invincible Jins or Tīrthaṅkaras, and of the legendary prince, Gommaṭeśvara Bāhubalī.

The reverence for peace and purity was uppermost in the Jaina consciousness, so much so that only the highest point of spiritual attainment was sought to be reflected in art. Among these spiritual goals is the state of *aparigraha*, with its various nuances of 'freedom from attachment', both internal and external.

The poetics of Jaina concepts, woven into the attitudes, gestures and postures of the images, brought forth multiple layers of meaning in a visual language of symbols. The subject chosen was depicted in the human form -- whether legend, deity or sage. However, the person was revered for the quality epitomized rather than his historical or social role. Thus, the inspiration quality of a Jina was his invincibility as the soul of perfection. Other qualities and states of being worthy of attainment were: of *vītarāgī*, free from desire and passion; *nirgantha*, free from knots of bondage; the posture of *kāyotsarga*, the erect figure in the attitude of dismissing the body; the figure seated cross-legged in *dhyāna mudrā*, indicating deep meditation; and finally the absolute *aparigraha* of the sky-clad- *Digambara*, the naked soul.

Of course, the subject most often chosen by the artist to project the wholeness of his inspiration was one of the twenty-four Jinas. The other main legendary subjects were -- Bāhubalī, the son of the first Jina Ṛṣabhanātha, the personification of endurance; and Bharatamuni, the prince who is worshipped not as *cakravartin* or emperor, but as muni. Besides these, there were also the images and paintings depicting ascetics and holy mendicants -- *acāryas*, *sādhus* and *sādhvīs*. The subject of art always remained close to the popular imagination and art sought to enhance it with the artistic experience it offered, taking great care to acknowledge the perfection of the ideals projected.

In the present paper I shall restrict my discussion of *aparigraha* as manifested in art to the three main subjects of the sculptures: the Jinas, Bāhubalī and Bharatamuni.

**Jinas:** The twenty-four Jinas formed the nucleus of the Jaina pantheon and so also of the visual representation of the thoughts and myths, which were translated into figurative and pictorial art. The Jinas were venerated as Devādhideva, the supreme deity. As a consequence, the Jina images far outnumber the images of all other deities. The Jina images evoke the worship of *bhāva*, the soul's particular state of being, and not the *dravya* or the physical idol at all. The object of worship is the perfection attained by a human being who has won freedom from all bondage, through absolute renunciation of worldly possessions and deep austerity. The figures depicted are always youthful, with a stillness, suggesting a realm beyond time.

The Jinas or *arhats*, are *vītarāgī*, passionless, and therefore they neither favour nor frown upon anybody. For this reason, the Jinas are always shown in the attitude of meditation. The Jaina artist's fidelity to this principle was unswerving. It is interesting to note the contrast with Buddhist art, where the Buddha, in due course of time, was depicted with such gestures as the *abhaya-mudrā*, the gesture bestowing protection and refuge, and the *varada-mudrā*, conferring boon which show his power to intervene and bestow blessings in the material and phenomenal world. In the Jainism, none of the Jinas was ever credited with performance of miracles, even at the time of the their *upsargas*, the hindrances caused by evil spirits during their penance. This was not the case with Buddha imagery. The Jaina artist, by strictly adhering to the *dhyāna* and the *kāyotsarga mudrās* in respect of Jinas showed their commitment to transcendental meditation and dismissal of the body as suggested with *Yakṣas* and *Yakṣis* as *Śasanadevatās* who, according to Jaina texts, could fulfil the worldly desire of the common worshippers. The Jina images of the earliest period were carved over a span of some three hundred years (third century BC to first century BC), right from the Mauryan and Śuṅga-Kuṣāna period. The main example of these were found in Mathura in UP, and Chausa and Lohanipur in Bihar. The seven Jinas represented in early Jaina art are: Pārśvanātha, Rṣabhadeva,

Mahāvīra, Neminātha, Sambhavanātha, Munisuvrata and Supārśvanātha. The figures of all the other Jinas were carved during the Gupta and post-Gupta periods, and many of these have been found in: Mathura (UP), Rajgir (Bihar), Durjanpur (Vidisha, MP), Akota (Gujarat) and Badami and Aihole (Bijapur, Karnataka). The innumerable Jina images created during the subsequent centuries have been found at a number of sites of the Śvetāmbara and Digambara affiliations in North and South India. All the Jina images, invariably show the highest point of renunciation attained in their *dhyāna* and *kāyotsarga mudrās*, suggesting the attainment of both, mental and physical *aparigraha*. These postures indicate the Jinas' total unconcern with worldly possessions and their absorption in meditation and spirituality. In the case of Digambara images, even the drapery is renounced and they become 'sky-clad'. They are called Jina because they have become spiritual victors mainly through observance of *ahimsā* and *aparigraha*.

The *aparigraha bhāva* of Jinas, made them *arhat* and worthy of adoration -- not only by human and divine beings but also by the animal world. Many of the figures of Jinas are surrounded by trio of animals like elephants, lions, leogryph, *makara* (crocodile) as throne frame animal.

A remarkable strength of Indian artists and craftsmen of the past was their deep insight into the canons of their religion and the philosophic nuances of very complex ideas. *Aparigraha*, for example, is open to the range of interpretations, ranging from the purely objective one of limiting material possessions and consumption, to the more subjective one of eliminating the drive of craving and ownership. The sublime peak is of course the meeting of both these conditions in *aparigraha* where the soul is no longer vulnerable and the human being no longer encumbered. The artist was not only aware of these various steps in spiritual progress, but was capable of expressing the subtle concepts from scriptures through the gross medium of stone.

It is in this light that the very interesting concept of *Jīvantaswāmī* and its expression in stone, is worth contemplating. Such a person, *Jīvantaswāmī*, is totally oblivious to the conditions of life around him. According to the Śvetāmbara tradition, Mahāvīra, on the request of his elder brother, desisted from formally renouncing the world but attained the dispassionate state at heart. He turned averse to material possessions and performed rigorous meditation, standing in the *kāyotsarga-mudrā*, within the palace itself. Images showing him as *Jīvantaswāmī* were carved from the Gupta period onwards, mainly at the Western Indian Śvetāmbara Jain sites. Mahāvīra is shown robed in a *dhotī* and crowned in *mukuṭa* and decked in jewels as befits royalty, while in the posture of absolute renunciation (*kāyotsarga-mudrā*). Such images of Mahāvīra known as *Jīvantaswāmī*, truly represent a portrait statue. They are found across the region, from Akota (Vadodara, Gujarat), Osian (Jodhpur, Rajasthan), to Khimsavara (Nagaur, Rajasthan) and a number of other places. The *Jīvantaswāmī* Mahāvīra images, showing the state of complete mental *aparigraha* even while bearing ornaments, is a wonderful example of the transformative principle in the concept of *aparigraha* successfully expounded in art.

The concept of *Jīvantaswāmī* became an aspiration model for a human being and was subsequently applied to creating the images of some other Jinas also, namely Śāntināth, Neminātha and Pārśvanātha.

**Bāhubalī**– He is also known as Gommaṭeśvara in the Southern tradition, occupies a singularly venerated position in the Jaina tradition and worship and hence in visual art. It is particularly important to note that Bahubali was neither a Jina (or Tīrthankara - highest in Jaina worship) nor does he figure in the list of the sixty-three Śalākāpuruṣas or great men, named in the Jaina texts. Bāhubalī was the younger son of the first Jina, Ṛṣabhanātha. In a fierce fight with his elder brother Bharat Cakravarti, Bāhubalī emerged as victor but in the final moment of triumph, the futility of the worldly power and possessions dawned on him. He handed back the reins of power to his brother, renounced worldly possessions and went on to attain

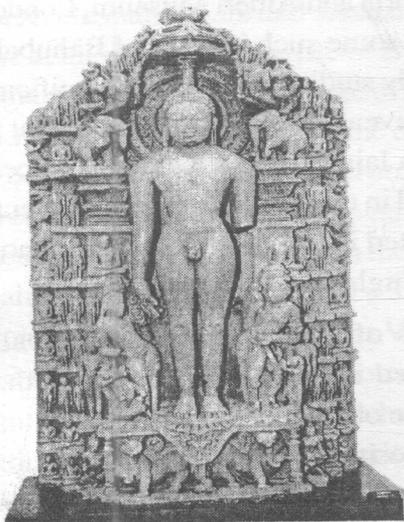
omniscience and hence salvation. As an ascetic, he performed rigorous austerities, such as the prolonged meditation for a whole year, standing erect in the *kāyotsarga* posture, and finally attained *kevalajñāna* or omniscience. The *kāyotsarga* posture is associated exclusively with the Jinas.

To suggest his rigorous tapas in visual representation, Bāhubalī is shown not only in the *kāyotsarga mudrā*, but also with creepers entwining his limbs to suggest the passing of the year he had stood through. Another unusual feature in the Bāhubalī imaging is the depiction of snakes, lizards and scorpions, either nearby or creeping over his body. The presence of the deer and the sylvan backdrop marks out the Bāhubalī's images from Ellorā. These representational characteristics distinctly suggest the long passage of time in which Bāhubalī was absorbed in *tapas*, or deep trance. The creepers and the scorpions, lizards, snakes and deer depicted with Bāhubalī, symbolize the intimate relationship and co-existence of man and nature. The images of Gommateśvara Bāhubalī are viewed today with a new awareness in the context of our serious ecological concerns.

The *kāyotsarga* posture and nudity of Bāhubalī are symbolic of total renunciation and perfect self-control. His profound observance of renunciation, non-violence and austerity inspired both the Śvetāmbara and the Digambara Jainas to worship Bāhubalī who as a result, became a powerful symbol as well as personification of the *aparigraha* and self-sacrifice preached by the Jinas.

The literary references to Bāhubalī are found in sources dating from about fourth century A.D. in literary works, of which the most important ones are: the *Paumacariya* of Vimalasūri (473), the Vasudevahindī and the *Āvaśyaka-niryukti* (around early sixth century A.D.), the *Padmapurāṇa* of Raviseṇa (676 AD), *Harivarṃsapurāṇa* of Jinasena (783), the *Ādipurāṇa* of Jinasena (after 837), the *Triṣaṣṭīśālākāpuruṣacaritra* of Hemacandra (c. mid-twelfth century) and the *Caturviṃśati-Jina carita* of Amarchandra Sūri (thirteenth century AD).

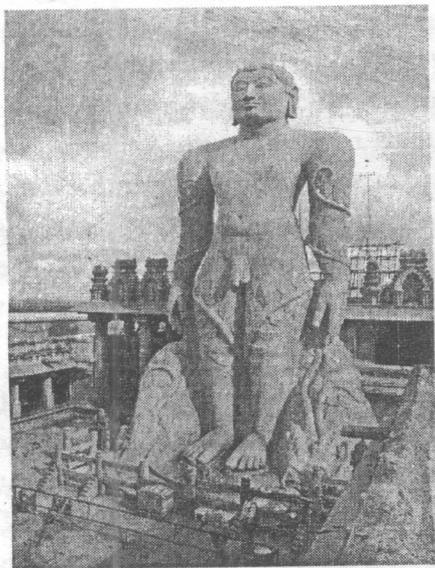
### Three Tirthankara & Bharatmuni



37. Risabhanath, Khajuraho, 10th cent. A.D.,  
Archaeological Museum, Khajuraho [Acc. No. 1682]



57. Bharata Muni, Temple no. 11,  
Deogarh, 10th-11th cent. A.D.



Lord Bahubali



34. Parshvanath, Nachna [Panna, M.P.],  
late 5th cent. A.D. Ramvana Museum, Satna

During the course of preparing a research paper for international symposium on Jainism held at Victoria and Albert Museum, London in November 1995, I came across some such images of Bāhubalī, which had not, till then, been properly studied. Some very significant iconographic features which they revealed led me to believe that in art, particularly so of the Digambara Jain tradition, a gradual process of elevating Bāhubalī in rank, started in the late sixth or early seventh century AD. The process culminated in bringing Bāhubalī almost at par with the Jinas who were the highest in Jaina worship.

Through the legends and images of Gommatēśvara Bāhubalī, virtually a new ideal was introduced into Jainism to suggest that even an ordinary person, through the observance of *aparigraha* and *sādhanā*, can attain the most exalted position of the highest veneration. It was not a coincidence that the tallest Jaina image ever carved was that of Gommatēśvara Bāhubalī, who was not a Jina. The culmination of the process of this elevation was that in the Karkal (Karnataka) inscription of 1432 AD, he is referred to as *Gommaṭa Jinapati*. In the sculptures of the ninth and twelfth century AD (found in Deogarh, UP) and Ellorā (Maharashtra) Bharata Cakravartin, the symbol of highest worldly power and royalty is shown sitting in the attitude of supplication at the feet of Gommatēśvara Bāhubalī. This juxtaposition of Bharata and Bāhubalī represents the very soul of Indian culture which has held the values of *aparigraha* and *ahiṃsā* always at the summit of moral excellence. Even today, one expects the highest political dignitary to bow before spiritual stages. The images of Gommatēśvara Bāhubalī thus carry important and relevant socio-cultural messages.

**Bharata Muni**— He occupies an exalted position in the tradition of both the Jaina sects. His name was included in the list of the sixty three great men, *Śalākāpuruṣas* of the Jaina pantheon, in the early centuries of the Christian era, or even earlier. Bharata, the first of the twelve *cakravartins*, or universal rulers, was the elder son of the first Jina, Ṛṣabhanātha. He became *cakravartin* succeeding his father, and ruled from Vinitā. Bharata owned the nine treasures, *navanidhis*,

and fourteen ratnas-jewels. Among these were the sword, *cakra*, horse, elephant, *maṇi* and *senāpati* or commandership as *cakravartin*. The detailed story of the life of Bharata and his clash with his brother Bāhubalī, and the final change of heart is recounted in the Śvetāmbara and Digambara literature of the early medieval times. Bharata began to be depicted in plastic art from the tenth century AD onwards. At Śvetāmbara Jain sites, he appears only in the narrative panels, in the scenes of fierce fight between the brothers. These instances are found mainly in the eleventh century Śāntinātha Temple at Kumbhariya in Gujarat and in the Mount Abu Vimala Vasahi of the twelfth century AD in Rajasthan. It may be noted here that Bharata was invoked and held in high veneration only when he renounced material possession and took to the path of austerity, performing rigorous penance, to attain the omniscience or *Kevalajñāna*. As all the Tīrthaṅkara and *śalākāpuruṣas* or Great men performed *tapas* in the *kāyotsarga mudrā*, so also did Bharata.

One day when Bharata looked into mirror, the whole futility of the worldly possessions and lusts dawned on him and atonce he decided to quit the world and seek *kevalajñāna*. When Indra (*Śakra*) came to know of this, he paid homage to Bharata. The *cakravartin* like the Tīrthaṅkaras or Great men, plucked out all his hair in five fistfuls and performed *tapas*, finally to attain omniscience. The *Mahāpurāṇa* clearly states that Bharata, prior to renunciation, received the homage of only kings but after renunciation, he attained lordship over the three worlds and was worshipped even by the celestial Indras.

In the sculptures, Bharata is always portrayed as standing in the *kāyotsarga mudrā* and absorbed in *tapas*. As he renounced all material possession, including the *navanidhis* and the fourteen jewels before retiring to the forest for *tapas*, he is shown without any royal insignia or ornaments on his person. The figures of the nine treasures and fourteen jewels possessed and then renounced by Bharata as *cakravartin* are depicted on the pedestal. The image of Bharata can be distinguished from that of the Tīrthaṅkaras mainly by the mark of the *navanidhis* and fourteen *ratnas* presented in the composition.

Bharata enjoyed a specially favoured position in Deogarh (U.P.) where five sculptures of his image were found.

Thus, concept of *aparigraha*, as found in Jaina texts, came to evolve further and got transformed in the visual renderings of the Jina, Bāhubalī and Bharata Muni. The complete silence of the sculptures speak of *aparigraha* in a profoundly inspiring way, not only to the names of those ancient times but also to us today.

## References

- 1- **M.N.P. Tiwari-** (a) *A Note on Some Bahubali Images From North India, East & West* (Rome), New Series, Vol. 23, Nos. 3-4, 1973; *Jaina Pratimāvijñāna*, Varanasi; 1981 (b) *Element of Jaina Iconography*, Varanasi, 1983; *Khajurāho Kā Jaina Purātattva*, Khajurāho, 1987; (c) *Jaina Art of Gupta Period*", *Mārga*- Special issue on Gupta Art, Mumbai, 1991; (d) *Landmarks of Jaina Iconography*, In: *The Ānandavana of Indian Art* (Dr. Anand Krishna Felicitation Volume), Varanasi, 2004; (e) *Jaina Art and Architecture*, Vol. I of *Encyclopedia of Jaina Studies* (jointly authored by M.N.P. Tiwari, Kamal Giri, Harihar Singh), Varanasi, 2010.
- 2- **U.P. Shah-** (a) *Bāhubalī: A Unique Bronze in the Museum*, Bulletin of the Prince of Wales Museum, Mumbai, No. 4, 153-54; (b) *Jaina Rūpamaṇḍana*, New Delhi, 1984.
- 3- **V.S. Agrawala-** *Indian Art*, Varanasi, 2003 (reprint).
- 4- **A. Ghosh (Ed.)-** (a) *Jaina Art and Architecture*, 3 Volumes, New Delhi, 1974. (b) *Bāhubalī: A Unique Bronze in the Museum*, Bulletin of the Prince of Wales Museum, Mumbai, No. 4, 153-54; (c) *Jaina Rūpamaṇḍana*, New Delhi, 1984
- 3- **V.S. Agrawala-** *Indian Art*, Varanasi, 2003, (reprint).
- 4- **A. Ghosh (ed.)-** *Jaina Art and Architecture*, 3 volumes, New Delhi, 1974.

# **Tolerance in Jaina Religion: Through the Ages**

**Dr. Ashok Kumar Singh**

*In this age of globalization and advancement of communication technology there is visible erosion in human values. Due to materialistic approach non-religious outlook specially on the part of youth, etical concern is loosing its relevance. Ultimately harmony of the society is in danger. There is need to think over the positive aspect of religion. This article is an attempt to underline the practical aspect of religious tolerance of Jainas as well as the basic tenets expounded in Jaina texts which are the key-stone for religious harmony in the world.*

**-Editor**

The world, today, is a highly interdependent global society--a global city--a global village. The development of advance technology, communication system and trade has brought about unprecedented changes in the pattern of thinking and approach of the people towards life. The whole world is in the grip of materialistic outlook. The onslaught of materialism, consumerism etc. is proving to be serious threat in maintaining spirit of goodwill and harmony in the world. Through advance communication technologies religious and social organizations, corporate groups and other activists are attracting, communicating and influencing any number of people, in any part of the world, with whatever theme, very conveniently, at their choice. In the field of religion religious leaders seem to have left refraining from insisting that their religion alone embodies the whole truth and all others are groping in the darkness. The widening gulf, among the adherents of various religions as well as within their sub-sects, has assumed dangerous proportion and is threatening world's peace and harmony. The humanity as a whole is facing the most severe threat, due to the division of society on the basis of caste, creed, society, region and nationality.

In this age of globalization, the spurt in trade activities and job opportunities has led to the large-scale travelling and migration of the people all over the world. This has also effected change in the traditional ethnic and religious geography. All countries in the world have become socially and religiously multicultural without choice. Lack of respect for fellow religious people has led to the rivalry and bitterness among not only nations with adherents of different religions but also among the different religious community of one nation. It has led (and continues to lead) to many wars, terrorist activities and bitterness among different groups in society. The ultimate results of this bitterness and rivalry are religiously-based wars, terrorism, and civil disturbances, as we have seen in the last decade in Afghanistan, Bosnia, Cyprus, India, Iraq, Israel, Kosovo, Macedonia, Nigeria, Northern Ireland, Pakistan, Palestine, Philippines, Sri Lanka, Sudan, etc., as well as New York City, the Pentagon, and the Pennsylvania countryside. It should be obvious to all that the root cause of the 9-11 terrorist attacks was religious hatred and intolerance.<sup>1</sup>

India, also, has witnessed a number of events of religious intolerance, conflicts and riots, having taken place through out its history. Islamic invaders such as Mahmudā of Ghazani committed iconoclasm and genocide of Hindus. Mughal Emperor Aurangzeb is regarded as perpetrators of religious intolerance towards Hindus through acts such as imposition of zajia. The Goa Inquisition was carried out against the Hindu, Muslim and Jewish populations of Goa by Portuguese Rule. Indo-Pakistan partition 1947, 1984 anti Sikh riots, 1992-93 Bombay riots, 2002 Gujarat riots, 2008 Kandhamal riots of post -Independence era are some of the events which jolted heavily the social equilibrium of India.<sup>2</sup>

**Non-Religious Attitude:** The materialistic approach and effect of globalization has resulted in adopting non-religious outlook by a sizable number of people, specially the youth. This tradition of non-religious ethical thinking originated in Western Europe and has a

history that can be traced back some 2,500 years to the philosophy of the Ancient Greeks.<sup>3</sup> This way of understanding the world, of finding meaning in life, and of grounding moral thinking can also be found in China and India and many other cultures. It was during the 19<sup>th</sup> and 20<sup>th</sup> centuries, a range of organizations began to serve and represent the interests of the non-religious people through these organizations: 1.Agnostic,2.Atheist ,3.Freethinkers, 4. Humanist ,.5.Non-religious, 6.Rationalist,7. Skeptic and 8. Secularists. Secular /Non-religious/Agonistic are supposed to be 1.1 billion in the world.<sup>4</sup>

**Attitude of Youth towards Religion:**As already mentioned, today in many parts of the world, young people are turning away from religion. They say, "Religion is not so important for our daily life. Religion is an unnecessary burden to mankind. Religions hinder the man's thinking power." These young people think that they can live very well without religion.

### **Religion: Positive for youth**

But contrary to the outlook of youths towards religion,a study report published on Sept. 9 by Pat Fagan<sup>5</sup>, Senior Fellow of the *Family Research Council and Director of the Marriage and Religion Research Institute*, on religion and children's academic performance, is capable of convincing the younger generation why religion is important and why religion must play an important role in their daily life. Religion is beneficial for youth in their study, work and cultivating civic sense in them. The study identified a number of ways through which religion help students:1.It internalizes values and norms that help achievement; 2.It fosters high personal expectations, and helps students avoid socially deviant behaviour. ,3.Religious families tend to be cohesive and stable, to plan for students' futures, and to expect much of them; 4.Teenagers who are devoutly religious have higher educational expectations for themselves; 5.Religious peers tend to be more academically oriented, and the resulting peer group encourages academic engagement;

6. Religious attendance also appears to boost social skills; 7. Churches offer students resources, community, and mentorship. The strong social bonds of religious groups can supplement the resources available to children, helping them to achieve higher levels of education.

### **Civic impact**

In "American Grace: How Religion Divides and Unites Us," Robert D. Putnam and David E. Campbell<sup>6</sup> point out how much more religious America compared to other countries and they conclude that this makes Americans better citizens and neighbors. A report by the Religion News Service, dated May 13, 2009, said that among the findings of the study was the fact that religious people are three to four times more likely to be involved in their community. Compared to those who are non-religious they are more involved in voluntary associations, and in attending public meetings, and more likely to vote in local elections, and to donate time and money to causes.

The present state of affairs as for as man's approach in general and to that of religion in particular is concerned may be put in these words of George Santayana<sup>7</sup>, "We've fashioned ourselves to be smarter, faster, more capable, and more clear-minded than all our predecessors, and it's only led us to reject truth, standards, decency, virtues, and integrity as we seek to claim the ultimate revelation that escaped generations of others".

### **Tradition of Religious Tolerance In India**

The history of religious tolerance, in India is deep rooted which is apparent through the citations found in the early texts and inscriptions

The fifth *Aṅga* text *Vyākhyāprajñapti* (c. 4th-3rd cent. BC)<sup>8</sup>, also known as *Bhagavatī*, provides an illustration of religious tolerance. Once Gautama's (Chief-disciple of Mahāvīra) old acquaintance, initiated into some other faith, was to visit him. Mahāvīra instructed

Gautama to greet him with respect and affection. Gautama responded accordingly. The induction of teachings of *Nārada*, *Bhāradvāja*, *Maṅkhaligośāla* etc. famous personalities of Vedic tradition, in Jaina text *Ṛṣibhāṣita* and treat them as *Ṛṣis* is unparalleled in the history of world religions.

The plural nature of Indian society in the 3<sup>rd</sup> cent. BCE was encapsulated in an inscription of Aśoka: "King Piyadasi (Aśoka)<sup>9</sup> dear to the Gods, honours all sects, the ascetics (hermits) or those who dwell at home, he honours them with charity and in other ways. But the King, dear to the Gods, attributes less importance to this charity and these honours than to the vow of seeing the reign of virtues, which constitutes the essential part of them. For all these virtues there is a common source, modesty of speech. That is to say, One must not exalt one's creed discrediting all others, nor must one degrade these others Without legitimate reasons. One must, on the contrary, render to other creeds the honour befitting them." King Khārvela (born in the family of Rājaraṣi Vasu) declares himself in his inscription (approximately 2nd century BCE): *savapaṣaṇḍa-pūjako, savadevāyatana-sanamaskārako*. i.e. I am worshipper of all sects, restorer of all shrines. Khārvela's self-description must be contrasted with other rulers around the world, who took pride in calling themselves "butshikan" or "defender of the (only true) faith"<sup>10</sup>

In Jaina tradition the instances of tolerance are available not only canons but also in the acts of later Jaina Royal personages/ministers With regard to the administration of Minister Vastupāla it is mentioned that he has neither malice towards schools (*darśana*) nor towards class (*varga*). Vastupāla also paid veneration before the members of other faiths also alongwith Śvetāmbaras of all the cities in his nation every year.<sup>11</sup>

Another episode related with *Vastupāla* and mother of the contemporary Muslim ruler Sultan Mojadin of Delhi is an instance of religious

tolerance. During course of her pilgrimage to Haj, the mother of Muslim ruler Sultan Mojadin of Delhi visited Stambhapur (modern Cambay of Gujrat). Vastupāla made her grand entry into the city. He himself washed her feet and stayed her in his palace for ten days.<sup>12</sup>

Badayuni in his Muntakhab-ut-Tawāīr<sup>13</sup> reports that the Mughal Emperor Akbar, who had established the Din-i-Ilahi faith, decreed the following in AH 1000 (1551-1552 CE): "Hindus who, when young, had from pressure become Musalmans, were allowed to go back to the faith of their fathers. No man should be interfered with on account of his religion, and every one should be allowed to change his religion, if he liked. ...People should not be molested, if they wished to build churches and prayer rooms, or idol temples, or fire temples."

The observation of His Holiness Dalai Lama<sup>14</sup> regarding the tolerance of Indian religions outlook is also very significant. He remarks,

"Major religions of the world like Hinduism, Buddhism, Jainism and Sikhism originated in India and it provided shelter to followers of religions like Zoroastrianism. These can be a model for rest of the world," he said. ... We have to consider human values and think about humanity as a whole. It is a universal responsibility." "All major religions essentially have great potential to bring genuine peace on this planet," he said and urged people to "promote secular values and religious harmony". "We have no difference. Emotionally, mentally and physically we are the same. For our own interests, we have to take care of six billion human beings," he said.

Ach. Mahaprajna<sup>15</sup> also has declared, *ekkā manussa jāti*. Thus, denouncing the division on the basis of caste, creed, colour etc., certainly, the creation of man. Rev. Acharya Dr. Shivamuni Ji, the present head of Śvetāmbara Sthānakavāsī sect also preaches the religious tolerance, in thought and action when he instructs the participants (Jaina as well as non-Jaina) of his *Ātmadhyāna* camp to bring before their closed eyes the figure of god, whom they worship, whom they adore. Thus, it can be said that Indian tradition

in general and Jaina tradition, in particular, has the spirit of tolerance in religion from earliest days and this spirit is still present.

**Testimony to Tolerant Religious Outlook:**It is heartening to note that India has a Hindu President ( Hon. Mrs. Pratibha Patil), Muslim Vice-President ( Hon. M. Hamid Ansari), a Sikh Prime Minister ( hon.Dr.Manmohan Singh) and a Christian. Defence Minister Mr. A. K. Antony. The leader of the largest party, the Indian National Congress, Sonia Gandhi is a Catholic Christian, while the leader of the opposition is Sushma Swaraj, a Hindu. India's ex-President Hon. Dr. APJ Abdul Kalam was a Muslim. Out of the 12 Presidents of India since Independence, three have been Muslims. Five Chief Justices of Supreme Court of India, have been Muslims. India had a prominent former Defence Minister (George Fernandes), a Christian (though not practicing) and India's Air Force Chief, Fali H. Major, was a Parsi.<sup>16</sup>

### **Role of Religion**

Now comes the question what is the role of religion in society? When we think of religion we think of it as a very powerful instrument of spreading love, compassion, benevolence, a desire for and a striving for a more just and humane world. In the *Mahābhārata*,<sup>17</sup> *Yudhiṣṭhira* asks *Bhīṣma* to explain the meaning and scope of *dharma*. *Bhīṣma* replies: It is most difficult to define *dharma* (religion). It has been explained to be that which helps the upliftment of living beings. Therefore, that which ensures the welfare of living beings is surely *dharma*. The learned rsis have declared that that which sustains is *dharma*.

In the *Karṇa Parva*, Lord Kṛṣṇa<sup>18</sup> explains *dharma* to Arjuna in the following words:

*Dharma* sustains the society. *Dharma* maintains the social order. *Dharma* ensures well being and progress of humanity. *Dharma* is surely that which fulfils these objectives.

Thus, the role of religion in today's society is to help heal the individual. When individuals are healed, families are healed, and when families are healed, society is healed. *Dharma* is conducive to the highest good. Most of the problems of today's society can be healed through following our religious moral codes.

**Elements of Tolerance in Jaina religion:** After deliberating on the role of religion aiming the welfare of society as a whole, in general, we must understand the various ways which the different co-religionists regard each other; we must understand how the various religious groups react to each other. In this context what is the approach of Jaina religion. We see some religious groups are indifferent to the teachings and the practices of other religions. Some maintain their religious affiliation and yet respect other religions and appreciate their teachings. Jainas belong to the religious group that accepts and appreciates the reasonable teachings of every religion. They can also tolerate the practices of other religious, cultural traditions and customs, although they may not necessarily wish to emulate them. In other words, they respect the other man's views and appreciate other practices without harbouring any religious prejudices. This is called religious tolerance. Jaina religion has much to contribute to build a pluralistic global system that is peaceful and compassionate.

### **Human Welfare : The Sole Aim**

The Seers of every religion preaches only the basic tenets of his Order for the welfare: temporal as well as spiritual, of the whole mankind. His Teachings are organized as a religion by incorporating various religious rites, rituals, traditions and customs. Of course, these practices are important to introduce and to preserve religion amongst the masses. But for a man seeking to be good or to be religious, such ritualistic practices are not really important. Without doubt, all religious teachers have dedicated their lives for the sake of human welfare. They deserve respect and honour, for they also have done good service to mankind. They all have some characteristics common with others as well as specific features of their own.

Universal virtues such as non-violence, friendliness, service to the humanity, truthfulness, honesty, control over senses etc. are commonly shared by all the religions of the world.

Though tolerance is mainly concerned with the religious outlook yet it is a virtue which is reflected in attitude towards various aspects of life. Its spirit cannot be cultivated in isolation but a number of other virtues are required as its precondition. Therefore, to comprehend in totality, the theory and application of tolerance in the context of Jaina tradition, the basic tenets of a religion ought to be understood.

**Essence of Religion:** For comprehending the true nature of Religion, a look at the definitions given by Jaina Ach. in their respective works is necessary. We find that 1. Kindness (*dayā*), 2. Three jewels, 3. Jivadayā- kindness, 4. Non-violence (*ahiṃsā*), 5. Friendliness (*maitrī*), 6. Absence of Non- religion (*adharmarahīta*), 7. Forgiveness (*kṣamā*), 8. Nature of Reality (*vastusvabhāva*), 9. Absence of Violence (*ahiṃsā-rahitattva*) have been described as the main characteristic of religion in their definitions.<sup>19</sup> The religion based on kindness (*dayā*), etc. universal virtues is bound to be magnanimous and tolerant.

**Human Race is one.** Jainism, since its inception, believes in and advocates religious tolerance. Entire humanity, according to Jaina tradition, is unitary as a race because no element discriminating them is found in human as species. Jatasinghnandī, the author of *Varāṅgacarita*, maintains that human as a whole belonging to one species (*jāti*) it is improper even on the basis of valid knowledge (*pramāṇa*) and stand points (*nayas*), to highlight inequality by dividing them among the class of *brāhmaṇa, kṣatriya, vaiśya* and *sūdra*.<sup>20</sup> Ach. Guṇabhadra, writes that no diversity of figure (*ākṛti*) exists, as between cow and horse, among human beings. If there were disparities of figure among them it would have been proper to admit the caste- differences.<sup>21</sup> This approach of oneness towards human being is bound to inculcate the spirit of tolerance and goodwill

among the Jaina community.

**Humanity: the Essence of Religion:** Jaina religion also identifies that to be a human in its real sense is essential. To act according to the true nature of a thing is religion, that is what is preached by Jaina texts propounding *vatthusahāvo dhammo*.<sup>22</sup> Prabhācandra also remarked religion as, “*Jivādivastunoyathāvasthitasvabhāvo vā*.”<sup>23</sup> This implies that if we fail to behave like a human being, we have no right to call ourselves a religious being or even a human being. Thus, humanity is our first and the foremost religion. But who is *mānava* (human)? According to Amitagati<sup>24</sup> one endowed with the eyes in form of knowledge, originated through mind and knowing *heya* and *upādeya*. Human has been divided into two mlecca and ārya.

Humanity is characterized by self-awareness, reasonableness and self-control. These three essential qualities of humanity are comprehended by three jewels, i.e. Right faith (*samyagdarśana*), Right knowledge (*samyagjñāna*) and Right conduct (*samyakcāritra*). The presence of these three makes a being a perfect human being.

**Equanimity:** For Jainas, a true religion is based on the practice of equanimity, *Ācāraṅgasūtra*,<sup>25</sup> (c. 5<sup>th</sup>- 4<sup>th</sup> cent. BC) also defines religion in these words, “Equanimity is the essence of religion, while the observance of non- violence is its external exposition or a social aspect of religion.” According to *Bhagavatīsūtra*<sup>26</sup> also nature and ultimate end of the self is equanimity. Jaina Ācāryas have defined equanimity also. According to *Dhavalā*<sup>27</sup> absence of attachment and aversion towards enemy and friend, jewel and stone, gold and soil is equanimity. According to Ach. Hemacandra<sup>28</sup> equanimity is the neutrality towards the causes of attachment and aversion. This attachment and aversion has always been at the root of dissension among communities. Against this the spirit of equanimity has been the guiding spirit of Jaina religion. It has been tolerant and respectful towards other faiths and religious ideologies right through its inception. *Jambūcarita*<sup>29</sup> also regards equanimity as the

characteristic of religion.

While expounding the tolerant outlook of the Jainas<sup>30</sup>, Upādhyāya Yaśovijaya (17<sup>th</sup> century AD) maintains a true non-absolutist does not look down on my faith but treats all the faiths equally as a father does to his sons, for a non-absolutist does not have any prejudiced and biased outlook. According to him a little knowledge, inducing a person to be impartial is more worthwhile than the unilateral vast knowledge of scriptures.<sup>0</sup>

### **Mutual Cooperation: Innate Nature of Living Beings**

Through this invaluable saying, *Parasparopagrahojīvanām*<sup>31</sup>, of Umāsvatī (3<sup>rd</sup>- 4<sup>th</sup> cent. AD), Jaina tradition proclaims that co-operation and co-existence are the essential nature of living beings. Living on others or killing by others has no place in their ideology, they believe living with others or living for others.

### **Compassion (*dayā*): the Heart of Religion**

Religion, according to Jaina Ach. is characterized by compassion. What is compassion?. According to *Mahāpurāṇa* of Jinasena<sup>32</sup>, *dayāprānyanukampānām* that is to have *anukampā* towards living beings is *dayā*. Ach. Hemacandra<sup>33</sup> also defines *dayā* in similar manner, *dayābhūtānukampā*. He defines *dayā* as *karuṇā* also<sup>34</sup>. To be compassionate towards living being is itself religion. This spirit is echoed in a large number of writings of Jaina Ācāryas. The great Ācārya Kundakunda<sup>35</sup> defines religion as purified by compassion (*dayā*) *dhammo dayāvisuddho*. Ach. Vimalasūri, Jaṭāsiṅhāndi, Ach. Jinasena, Svāmī Kārttikeya, Vādībhaṅgī etc.<sup>36</sup> Jaina Ācāryas have categorized compassion as the distinguishing feature of Religion.

### **Non-Violence: Base of Jaina Religion.**

Social behavioural aspect of Jaina religion is marked by observance of non-violence. In *Ācārāṅgasūtra*<sup>37</sup> Mahāvīra expounded, the worthy men of past, present and future will say thus, speak thus,

explain thus, all breathing, existing, living and sentient creatures should not be slain, nor treated with violence, nor abused, nor tormented. Ach. Amṛtacandrasūri<sup>38</sup> defines ahimsa as the absence of attachment etc. passions. The observance of non-violence of the form of non-origin of attachment and hatred is pure, eternal and unchangeable law or tenet of the religion. In Jaina canon *Mūlasūtra Daśavaikālika*<sup>39</sup> religion has been described. Ach. Pūjyapāda<sup>40</sup>, Akalaṅka<sup>41</sup> also gives non-violence as the characteristic of religion. Bhāvasaṅgraha<sup>42</sup> also echoes the similar spirit. The observation of Prof. Sagarmal Jain<sup>43</sup>, is quite relevant in this regard, He says, in Jainism one hardly comes across instances of religious conflicts involving violence and bloodshed. At the most one meets with instance of disputations and strongly worded debates concerning ideological disagreements. The Jaina men of learning while refuting the different ideologies and religious standpoints, fully paid regard to them and accepted that the opponent's convictions may be valid from a certain stand point.

### **Non-Absolutism: the philosophical basis of Tolerance:**

Non-Absolutism (*Anekāntvāda*) forms the philosophical foundation of Religious tolerance in Jaina religion. Jaina Acharyas are of opinion that reality is a complex one. It has many facets, various attributes and modes. Though only omniscient can comprehend it completely yet even for an omniscient it is impossible to know and explain the reality without a stand-point or view-point. On the basis of partial and relative knowledge of reality one has no right to discard the views of his opponents as totally false. To Jaina thinkers the truth value of opponents must be respected and accepted. Ach. Siddhasena<sup>44</sup> Divākara remarked that all schools of thought were valid when they are understood from their own standpoint and so far as they do not discard the truth value of others.

Jaina tradition has explicitly mentioned that tendency of praising their own religion and deploring that of others is not going to do any good to anyone. One of the earliest Jaina *Āṅga* texts *Sūtrakṛtāṅga*<sup>45</sup>

categorically declares that those praising their own faith and views and censuring other's, accumulate malice against them hence remain engrossed in the cycle of birth and death.

**Attitude Significant towards rightness or Falsehood of scriptures:** According to Jainas the sole yardstick for measuring falsehood or rightness of any scripture is one's attitude. It is the attitude of followers that makes a scripture true or false. A false scripture is a right scripture for the one with right attitude and right scripture is a false one for a person of perverse attitude.

### **Democratic Approach to the path of Liberation:**

The term democratic itself is self-explanatory. Just as no discrimination is made on the basis of birth, caste, creed, gender etc. Similarly, door of liberation is open to all the salvable selves irrespective of their birth, creed, gender etc. Liberation is not the prerogative of only the followers of Jina Order according to them. The varieties of liberated souls expounded in Jaina canon-is testimony to this:By eliminating the vices of attachment and aversion only one can attain emancipation. One who attains equanimity of mind will certainly attain liberation, whether a Śvetāmbara or Digambara or Buddhist or anyone else<sup>46</sup> (*Seyambarovā asambarovā buddhovātahevaanno vasābhāvabhaviyappālahaimukkhān nasamdeho*).

Not only regarding the destination i.e. liberation but about its means also the Jaina approach is quite liberal. In attaining the liberation not the external mode of worship but it is the right attitude that matters. A person is spiritual by his intrinsic purity and not by the external practices. The significance of right attitude is well established by these words of Mahāvīra, the practices considered to be the cause of bondage may be the cause of liberation also. (*jeāssavā te parissavā, je parissavā te āssavā*.) Ācārya Haribhadra<sup>47</sup> also maintains that external appearances, dress codes etc. in no way, are of any worth. What matters is the control over passions. Neither non-clad nor clad in white, neither a logician nor a metaphysician, also not a

devotee of personal cult will get liberation, the freedom from passion is the liberation, real sense.

### **Adoption of Jaina Deities:**

Because of the impact of Hindu tradition Jaina tradition not only adopted various Hindu deities but their mode of worship also with some variations, suited to their religious temperament. Rituals in worship were alien to it in its pure form. *śāsanadeva* and *śāsanadevī* or *yakṣa-yakṣiṇī* of Jaina's is nothing but a Jaina version of Hindu deities. Inclusion of *Rāma* as *baladeva*, *Kṛṣṇa* as *vāsudeva*, *Lakṣmaṇa* and *Rāvaṇa* as *prativāsudeva*, in their scheme of sixty-three *śalākāpuruṣās*, is a testimony of their generous outlook towards other tradition. The adoption of Hindu gods and goddesses as consorts or companions of Jinas such as *Kālī*, *Mahākālī*, *Cakreśvarī*, *Ambikā*, *Padmāvātī*, *Siddhikā*, as well as *Sarasvatī* and *Lakṣmī* as independent goddesses, speaks a lot about the accommodative attitude of Jaina tradition. However, there is no denying the fact that this impact has been reciprocal. First Tīrthāṅkara Rṣabha and Lord Buddha of Śramaṇa tradition have been included among the incarnations of Gods in Vedic tradition.

In addition to above, a few instances of Jaina Ācārya composing hymns in praise of Hindu deities may also be furnished to demonstrate the tolerant outlook of Jainas. Jaina Ācāryas like Rāmakīrti and Jaimaṅgalsūri composed hymns in praise of Tokalji and goddess Cāmuṇḍā.

### **Jaina Faith:a Blending of Heretic Views:**

Significantly, the great Jaina Ācārya Siddhasena Divākara<sup>48</sup> (5<sup>th</sup> cent. AD) mentions, "Be glorious, the teachings of Jina, the union of all the heretic views, i.e. the organic synthesis of one sided and partial views, essence of spiritual nectar and easily graspable to the aspirants of emancipation. The remark of mystic Jaina saint Ānandghana<sup>49</sup> (17<sup>th</sup> cent. AD) also is of similar nature. He

says, "just as ocean includes all the rivers so does Jainism all other faiths". " Further he beautifully expounds that all the six heretic schools are the organs of Jina and one who worships Jina also worships them.

**Preservation of Non-Jaina Manuscripts:** Conserving manuscripts of other traditions in Jaina collections is, definitely, an act revealing their broad outlook which proved of great value in preservation of Indian heritage. Many Brahmanical and Buddhist texts are extant solely because these were preserved by Jains.

**Study of Non-Jaina Texts:** Jaina monks as well as Jaina laities read and studied the literature outside their religion. Their liberal approach was instrumental in their study of the literature of other traditions, at large scale. This is evident by the quotations found in sizeable number in commentaries written by Jaina Acharyas. Here, it may be mentioned as confirmation that containing more than 20,000 citations, made from important texts of Vedic and Buddhist traditions, occurring in the commentaries written by Jaina Acharyas, have been collected and are being brought out in three volumes (approx. 2000 pages), by Bhogilal Leherchand Institute of Indology, Delhi.

**Non-Critical Approach to the Treatment to Other Philosophical Systems in Compendia Works of Philosophy:** A number of works written by Jaina Acharyas in the form of philosophical compendia, titled *Darśanasāṅgraha* or *Darśanasamuccaya* are available. The most notable thing about these compendia works is the treatment of the schools of philosophy, therein. In description of the different schools, the author produces extensive citations from the authoritative texts of the respective schools. Not indulging in the criticism of those schools is a sound proof of their lenient approach towards other religions. *Ṣaḍdarśanasamuccaya* of Ācārya Haribhadra and also of Maladhāri Rājśekharsūri (14<sup>th</sup> cent. AD) may be referred to as example of such works.

**Writing Commentaries on Non-Jaina works:** Jaina Ācāryas have written about 450 commentaries, listed so far in different manuscript catalogues, mostly on the important works of Vedic tradition and a few also on the texts of Buddhist tradition. Keeping in mind the scenario where the practice of writing of commentaries on the works of other tradition is extremely rare, this gesture of Jaina authors is simply commendable. Nothing but an open mind approach towards learning might have convinced them to undertake this sort of writing. This trend was set by two distinguished Jaina Ācāryas Mallavādi (c.5<sup>th</sup> cent. AD) and Haribhadra (c. 7<sup>th</sup> cent.AD). The former commented on the Buddhist work *Nyāyabindu* of Dharmakīrti and the latter *Nyāyapraveśasūtra* of Dinnāga. Since then a number of prominent non- Jaina works belonging to the genre of epics, lyrics, drama, prose works, campū, śataka, hymns, prosody, poetics, grammar, lexicon, astrology, mathematics, Āyurveda, philosophy etc. have been commented by Jaina Ācāryas. The works of great poets like Kālidāsa, Bhāravi, Māgha, Śrīharṣa, Amarsingh, Mammaṭa,etc. found favour with JainaAcaryas. This generosity shown by

Jaina Ācāryas is unparalleled in world history. It is undoubtedly the outcome of their tolerant attitude towards other religions.

### **Due Importance to Temporal Duties:**

Jaina religion accords due importance to the duties (*dharma*)towards society and nation side by side religious affairs. Lord Mahāvīra has expounded ten duties dharmas in the third *Aṅga* text *Sthānāṅgasūtra*<sup>50</sup>, namely: 1.Duties towards village (*Grāmadharma*), 2. Duties towards city (*Nagardharma*),3.Duties towards nation (Rāṣṭradharma), 4.*Pākhaṇḍadharmā*, 5. duties towards family and lineage (*kuladharmā*),6. *Gaṇadharmā*,7. *Sanḡhadharmā*, 8.*Śrutadharmā*, 9.*Cārītradharmā*, 10. *Āstikāyadharmā*. This may be interpreted as an instruction of Mahāvīra that traditions, customs, rules and overall interest and welfare of family, village, city, republic, nation, etc. should be given due consideration.This commendable approach of

Jaina religion towards society and nation is deep rooted. It is further confirmed by Ācārya Somadevasūri<sup>51</sup> also when he says that where there is no distortion from right faith and accepted vows, one ought to follow the tradition prevailing in the country.

Thus, it may be said that elements of religious tolerance are prevalent in plenty in Jaina religion, what is needed is to adopt these in practice, which is the need of hour. We may conclude with the words of Dr. L. M. Joshi<sup>52</sup> of Punjab University, who observes: “The unity among the religions of mankind, if and when achieved, will be one of the greatest blessings on this earth. Certainly we cannot bring about this unity by mystifying or misinterpreting their differences in origins and doctrines. We can perhaps contribute towards achieving harmony among the followers of different faiths by impartially and respectfully studying their doctrines, beliefs and practices.”

## References

1. [http://www.religioustolerance.org/rel\\_tol.htm](http://www.religioustolerance.org/rel_tol.htm)
2. [http://www.religioustolerance.org/curr\\_war.htm](http://www.religioustolerance.org/curr_war.htm)
3. <http://www.humanism.org.uk/humanism/humanism-today/non-religious-beliefs>
4. *ibid.*
5. *ibid.*
6. *ibid.*
7. [http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom\\_of\\_religion\\_in\\_India#cite\\_note-5](http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom_of_religion_in_India#cite_note-5)
8. *He khamdaya! sagayam, khamdaya! Susagayam- 2/1 Bhagavatīsūtra,*
9. [http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom\\_of\\_religion\\_in\\_India#cite\\_note-5](http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom_of_religion_in_India#cite_note-5)
10. [http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom\\_of\\_religion\\_in\\_India#cite\\_note-5](http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom_of_religion_in_India#cite_note-5)

11. *Prabandhakośa*, Rajshekarsūri, Singhi Jaina Jñānapeeth, Singhi Jaina Granthamala No.6, Viśvabhāratī, Śāntiniketan, 1935, p.109
12. Ibid., p. 119
13. [http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom\\_of\\_religion\\_in\\_India#cite\\_note-5](http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom_of_religion_in_India#cite_note-5)
14. <http://www.rediff.com/news/2008/jun/01dalai.htm>
15. Vide. Jain, Prof. S.M., *Fellowship of faith and religious harmony*, In : *Jainism A Global Perspective*, PV, Varanasi,
16. [http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom\\_of\\_religion\\_in\\_India](http://en.wikipedia.org/wiki/Freedom_of_religion_in_India)
17. *Mahābhārata, Śāntiparva*, 109/9-11
18. *Mahābhārata, Karṇaparva*, 69/58
19. For definitions of religion, Vide. following texts:
  - Bodhapāhuḍa*, Kundakunda, Manekchand, Digambara Jain Granthamala, Bombay, 1915, G 25
  - Ratnakaraṇḍaśrāvakaścāra*, Samantabhadra, Manekchand, Digambara Jain Granthamala, Bombay, 1925, V 3
  - Dhavalā* (Comm.on *Ṣaṭkhaṇḍāgama*), Virāsena, Jainsahityoddharaka Fund, Amaravati, Vol. 8, p. 92
  - Ātmānuśāsana*, Guṇabhadra, Jain Saṁskṛti, Sanrakṣaka, Saṁgh, Solapur 1961, V 51
  - Paumacariyaṁ*, Vimalsūri, Prakrit Text Society, Varanasi, G 26-34
  - Varāṅgacarita*, Jaṭāsimhanandi, Manekchand, Digambara Jain Granthamala, Bombay, 1938, 15/107
  - Mahāpurāṇa*, Jinasena, Bharatiya Jñānapeeth, Kashi, 1951
  - Kārttikeyānupreksā*, Svāmī Kārttikeya, Rajacandra, Jain Sastramala, Agasa, 1959

-*Niyamasāra-vṛtti*, Padmaprabha Maladhārideva, Jaingrantha Ratnakara Office, Bombay, 1916, cited in comm. on gatha 6

-*Daśavaikālikasūtra*, ed. Madhukarmuni, Agam Prakashana Samiti, Byavar Rajasthan, 1/1

-*Sarvārthsiddhi*, Pūjyapāda, Bharatiya Jñānpīth, Kashi, 1955, 6/13

-*Tattvārthavārttika*, Akalaṅka, Bharatiya Jñānpīth, Kashi, 53, 6/13/5

-*Lalitvistarā*, Haribhadrasūri, Jain Pustakoddhara Sanstha, Bombay, 1915, p. 16

-*Tattvārthaslokavārttika*, Vidyānanda, Nirṇaya Sagara Press, Bombay, 1918, 6/13

-*Lāṭīsamhitā*, Rājmallakavī, Manikacanda Digambara Jain Granthamala Samiti, Bombay, 1927, 2/1

-*Dharamabindu*, Haribhadra, Agamodaya Samiti Bombay, 1924, V 3

-*Tattvārthasāra*, Amṛtacandrasūri, Nirṇaya Sagara Press, Bombay, 1905, 6/42

-*Kārttikeyānuprekṣā*, op. chit., V 97

-*Upāsakādhyayana*, Somadevasūri, Bharatiya Jñānapīth, Kashi, 1964, V 2

20a. *Astyāika Evatra yadi prajānām katham punarjāti catusprabhedah. - 25.2, Varāṅgacarita*, op. chit.

20b. *Kṛte yuge nāsti ca varṇabhedastretā pravṛtta vāthavātha, bhṛtyam- 25/9,*

21. *Ātmanuśāsana*, Guṇabhadra, op. chit.

22. *Vatthu sahāvo dhammo- 467, Kārtikeyānuprekṣā*, op. chit.

23. *Nyāyakumudcandra*, part I, Prabhācandra, Manikacandra Digambara Jain Granthamala, Bombay, 1938

24. *Pañcasāṅgraha*, Amitgati, Manikacandra Digambara Jain Granthamala, Bombay, 1927, 1/139
25. *Ācārāṅgasūtra*, ed. Madhukaramuni, Agam Prakashana Samiti, Byavar Rajasthan, 1/8/4
26. *Bhagavatīsūtra*, ed. Madhukaramuni, Agam Prakashana Samiti, Byavar Rajasthan, 18/10
27. *Dhavalā*, Vol. 8, op. chit., p. 84
28. *Yogaśāstra- auto-comm.*, Hemacandra, Jaindharma Prasarakasabha, Bhavnagar, 1936, vol. 1., comm. on 3/82
29. *Jambūsvāmicarita*, Pt. Rajamalla, Manikacandra Digambara Jain Granthamala, Bombay, 1936
30. *Adhyātmopaniṣad*, Upādhyāya Yaśovijaya, Jaindharma Prasarakasabha, Bhavanagar, 1908, V 70-73
31. *Tattvārthasūtra*, Umāsvāti, comm. Pt. Sukhalal Sanghavi, PV
32. *Mahāpurāṇa* (two parts), Jinasena, Bharatiya Jñānpīth, Kashi, 1951
33. *Yogaśāstra- auto-comm.* on 2/4
34. Ibid. 3/16
35. *Bodhapāhuḍa*, Kundakunda, op. chit.
36. Vide reference numbers
37. *Ācārāṅgasūtra*, op. chit., 1/4/1
38. *Puruṣārthasiddhupāya*, Amṛtcandra, v. 44
39. *Daśavaikālikasūtra*, 1/1
40. *Sarvārthasiddhi*, Pūjyapāda
41. *Tattvārtharājavārttika*, Akalaṅka
42. *Bhāvasaṅgraha*, Devasenasuri, Manikacandra Digambara Jain Granthamala, Bombay, 1921
43. Jain, Prof. S.M., *Jain Dharma aur Dhārmika Sahiṣṇutā*, In : Sagaramal Jain Felicitation Vol., PV, Varanasi, 1998,

44. *Sanmatitarkaprakaraṇa*, Siddhasena Divākara, ed. Pt. Sukhalal Sanghavi, Jain Svetambara Education Board, Bombay 1939, G 28
45. *Sūtrakṛtāṅgasūtra*, Agam Prakashana Samiti, Byavar Raj., 1/1/2/23
46. Haribhadra, Vide. *Jain Bauddha Aura Gītā ke Ācāra Darśanon kā Tulanātmaka Adhyayana*, Prof. S.M. Jain, Prakrit Bharati Academy, Jaipur, Vol. 2, p. 5
47. *Upadeśatarāṅgiṇī*, Haribhadra, Varanasi, 1910, 1/8
48. *Sanmatitarkaprakarana*, 3/69
49. *Nami Jina Stavana*, Ānandaghana, In: *Ānandaghana Granthāvalī*, Jain Sreyaskara Mandala, Mehasana, 1957.
50. *Sthānāṅgasūtra*, 10
51. *Yaśastilakacampū*, Somadevasuri, Nirnaya Sagara Press, Bombay, p. 373
52. Vide. (Religion), Wikipaedia

\*\*\*

## जिज्ञासा और समाधान

### जिज्ञासा

तीर्थकर पार्श्वनाथ जयन्ती के उपलक्ष्य में हम उनके दस भवों से सम्बन्धित जानकारी चाहते हैं। पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे, यह सभी स्वीकार करते हैं। उनके जीवन से हमें क्या विशेष शिक्षा मिलती है, इसका उल्लेख करने का कष्ट करें।

डॉ० राहुल कुमार सिंह

### समाधान

नमः श्रीपार्श्वनाथाय विश्वविघ्नौनाशिने।

त्रिजगत्स्वामिने मूर्ध्ना ह्यनन्तमहिमात्मने।। (१) पार्श्वनाथचरित, सकलकीर्ति तीर्थकर महावीर से करीब २५०-३०० वर्ष पूर्व जैनधर्म के २३वें तीर्थकर पार्श्वनाथ का जन्म उग्रवंशीय (इक्ष्वाकुवंशीय) राजा विश्वसेन (अश्वसेन/हयसेन) के घर वामादेवी की गर्भ से वाराणसी में हुआ था। इनके जीवन-चरित से सम्बन्धित सामग्री जैनागमों और प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि के काव्यग्रन्थों में मिलती है। इन ग्रन्थों में वर्णित चिन्तामणि, विघ्नहर, पार्श्वनाथ के दस भवों का वर्णन मिलता है जिनका अवलोकन करने से एक ही बात प्रमुख रूप से समझने में आती है “अपने प्रति वैमनस्य का तीव्र भाव रखने वाले के प्रति क्षमा, सहृदयता और मंगलभावना रखना चाहिए।” उनके जो प्रमुख दस भव बतलाये गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

**पहला भव-** अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में पोदनपुर के राजा अरविन्द थे। उनके मंत्री/पुरोहित का नाम था— विश्वभूति ब्राह्मण। ये ही पार्श्वनाथ के उस जन्म के पिता थे। उनकी माता का नाम था अनुन्धरी/अनुद्धया। उनके दो पुत्र थे— कमठ और मरुभूति। कमठ की पत्नी का नाम था— वरुणा और मरुभूति की पत्नी का नाम था— वसुन्धरा। वसुन्धरा बहुत सुन्दर थी जिस पर क्रोधी और दुराचारी बड़े भाई कमठ की कामान्ध दृष्टि लगी रहती थी। एक बार मौका पाकर उसने कपटपूर्वक उसके साथ दुराचार किया। मरुभूति के कामविरक्त स्वभाव को देखकर दोनों में परस्पर सम्बन्ध होने लगा। इस बात को जब मरुभूति ने स्वयं देखा तो उसने राजा से निवेदन किया। राजा ने कमठ को सिर मुड़ाकर राज्य से निकाल दिया। छोटे भाई इन्द्रभूति को राज्यश्रय मिलने से नाराज कमठ देशान्तर में जाकर पंचाग्नि तप करने लगा।

१. देखें— कल्पसूत्र, महापुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पासणाहचरियं (गुणभद्रगणि), पार्श्वभ्युदय (जिनसेन), पार्श्वनाथचरित (वादिराज), पार्श्वनाथचरित (भट्टारक सकलकीर्ति), पार्श्वनाथपुराण (चन्द्रकीर्ति), पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), पासचरिउ (रङ्घू), पासणाहचरिउ (श्रीधर, देवचन्द्र, पद्मनन्दि), पासपुराण (तेजपाल), पार्श्वपुराण (भूधरदास) आदि।

कालान्तर में जब मरुभूति का क्रोध शान्त हुआ तो वह अपने भाई से क्षमायाचना के लिए उसके पास गया परन्तु कमठ ने क्रोधित होकर उसके ऊपर विशाल शिला से प्रहार कर दिया जिससे इन्द्रभूति का आर्तध्यानपूर्वक मरण हो गया। आर्तध्यानपूर्वक मरण होने से मरुभूति अगले जन्म में तिर्यञ्च योनि में हाथी पर्याय को प्राप्त हुआ।

**दूसरा भव-** इस भव में मरुभूति बज्रघोष नाम का हाथी बनता है और कमठ कुक्कुट नामक सर्प। इस भव में हाथी मुनिवेशधारी राजा अरविन्द के उपदेश से श्रावक के व्रतों को धारण करता है और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। कमठ के जीव सर्प के द्वारा डसे जाने पर वह हाथी मृत्यु को प्राप्त होता है।

**तीसरा भव-** इस भव में मरुभूति श्रावक के व्रतों को धारण करने के कारण सहस्रार स्वर्ग में देव होता है और कमठ धूमप्रभ नामक पाँचवें नरक में जन्म लेता है।

**चौथा भव-** इस भव में मरुभूति विद्युत्गति और विद्युत्माला के पुत्र के रूप में जन्म लेता है जहाँ उसका नाम अग्निवेग/किरणवेग/रश्मिवेग रखा जाता है। कमठ अजगर के रूप में जन्म लेता है और ध्यानस्थ अग्निवेग मुनि को डसता है। मुनि डसने वाले सर्प के प्रति दयाभाव रखते हैं तथा उसके अपकार को भी उपकार मानते हैं।

**पाचवाँ भव-** इस भव में मरुभूति अच्युत स्वर्ग में विद्युत्प्रभ देव होता है और कमठ छठे नरक को प्राप्त करता है।

**छठा भव-** इस भव में मरुभूति बज्रवीर्य और विजया के पुत्र के रूप में बज्रनाभ चक्रवर्ती होता है और कमठ कुरंग/कुरंगक नामक भील बनता है। इस भव में भी कमठ अपने बाणों से ध्यानस्थ बज्रनाभ मुनि का वध करता है।

**सातवाँ भव-** इस भव में मरुभूति मध्यम ग्रैवेयक स्वर्ग जाता है और कमठ सातवें नरक में उत्पन्न होता है।

**आठवाँ भव-** इस भव में बज्रबाहु/कुलिशबाहु और प्रभंकरि/सुदर्शना के पुत्र के रूप में आनन्द/सुवर्णबाहु नामक चक्रवर्ती राजा होता है और कमठ सिंह पर्याय में जन्म लेता है। यहाँ भी वह ध्यानस्थ मुनि का भक्षण करता है। शान्तपरिणामों के कारण मरुभूति तीर्थकर नामकर्म प्रकृति का बन्ध करता है।

**नवाँ भव-** इस भव में मरुभूति आनत/प्राणत स्वर्ग में महर्धिक देव होता है और कमठ चौथे नरक में जाता है।

**दसवाँ भव-** इस भव में मरुभूति तीर्थकर पार्श्वनाथ के रूप में जन्म लेता है और कमठ सम्बर/महिपाल नामक नीच जाति (असुर जाति) का देव होता है।

इन दस भवों के मध्य में दोनों के अवान्तर कई जन्म होते हैं जिनका विशेष महत्त्व न होने के कारण केवल दस भवों को दिखाया गया है। इनमें भी दूसरा, आठवाँ/और दसवाँ भव अधिक महत्त्वपूर्ण है। दसवें भव में दो प्रमुख घटनाएँ घटती हैं-

११२ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

१. राजकुमार पार्श्व जब घूमते हुए गंगा नदी के तट पर यज्ञ कर रहे तपस्वी (कमठ का जीव) के द्वारा यज्ञकुण्ड में डाली जा रही लकड़ी में अवधिज्ञान से सर्प-सर्पिणी के जीवों को देखते हैं तो उस तपस्वी को ऐसा करने से मना करते हैं। तपस्वी उनकी बात पर विश्वास नहीं करता है और लकड़ी को जब चीरता है तो उसमें से मरणासत्र सर्प-सर्पिणी निकलते हैं। पार्श्व उन्हें नवकार मंत्र सुनाते हैं जिसके प्रभाव से वे दोनों सर्प-सर्पिणी नागलोक में धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में जन्म लेते हैं।

२. जब पार्श्वप्रभु ध्यानस्थ मुद्रा में कठोर तप कर रहे थे तब कहीं से कमठ का जीव सम्बरदेव/महिपाल वहाँ आता है और उन्हें देखकर पूर्वजन्म का स्मरण करता है तथा उन्हें अपना शत्रु समझकर उनके ऊपर घनघोर जलवर्षा, अग्निवर्षा आदि करके उपसर्ग करता है। जब इसका ज्ञान धरणेन्द्र और पद्मावती को होता है तो वे आकर प्रभु को अपने ऊपर बैठाकर तथा उनके सिर पर फनों का छत्र लगाकर उनकी रक्षा करते हैं। उस उपसर्ग के शान्त होने पर धरणेन्द्र और पद्मावती के साथ प्रभु पार्श्व उपसर्गकर्ता देव के प्रति भी मंगल-कामना करते हैं।

पार्श्व प्रभु के पञ्च कल्याणकों की तिथियाँ हैं- (१) च्यवन या गर्भ- चैत्र कृ० ४ (दिग० वैशाख वदी २), विशाखा नक्षत्र, (२) जन्म- पौष कृ० १० (दिग० पौष कृ० ११), अनुराधा नक्षत्र (दिग० विशाखा नक्षत्र), (३) दीक्षा या तप- पौष कृ० ११, (४) ज्ञान- चैत्र कृ० ४, विशाखा नक्षत्र, (५) निर्वाण- श्रावण शु० ८ (दिग० श्रावण शु० ७) विशाखा नक्षत्र, (६) निर्वाण स्थल- सम्मेर्दशिखर। राशि कुम्भ तथा वर्ण नीलमणि की तरह था।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार आपका विवाह प्रसेनजित राजा की पुत्री प्रभावती से हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की थी जिसमें ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे तथा सत्तर वर्ष तक साधु बनकर धर्मोपदेश देते रहे। उत्तराध्ययनसूत्र के केशी-गौतमीय संवाद से ज्ञात होता है कि उन्होंने सचेल (सन्तरोत्तर) तथा चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह) धर्म का देशकालानुरूप उपदेश दिया था जिसे महावीर ने देशकाल की परिस्थिति के अनुसार रत्नत्रय का ध्यान रखकर अचेल और पंचयाम में परिवर्तित किया था। दिगम्बर परम्परा में सचेल-अचेल का उल्लेख तो नहीं है परन्तु चातुर्याम की चर्चा अन्य रूप में मिलती है। देशकाल की परिस्थितियाँ आदिनाथ से लेकर महावीरपर्यन्त तक की दोनों परम्पराओं में एक जैसी मिलती हैं।

प्रो० सुदर्शन लाल जैन

निदेशक, प्रो० सुदर्शन लाल जैन

१. दिनाङ्क १८-२० नवम्बर, २०११ को राष्ट्रीय मानव शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा 'Untouchables Through the Ages' विषय पर भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सभागार में त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ। इस संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में संस्थान के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने एक सत्र की अध्यक्षता के साथ शोध-पत्र का वाचन भी किया तथा समापन सत्र की अध्यक्षता की।

२. वज्र एवं वरुण जनजागरण समिति, वाराणसी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के संयुक्त तत्त्वावधान में १ दिसम्बर से ३ दिसम्बर, २०११ को विद्यापीठ के प्राङ्गण में आयोजित त्रिदिवसीय प्रशिक्षण कार्यक्रम के मुख्य अतिथि के रूप में विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने विद्यापीठ का परिचय देते हुए इसका उद्घाटन किया। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम का विषय था- 'सामाजिक पिछड़े वर्गों के उत्थान हेतु उन्हें जागरूक करना'।

३. पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने प्राकृत जैन और अहिंसा शोध संस्थान, बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर में दिनाङ्क १२ दिसम्बर, २०११ को आयोजित डॉ० हीरालाल जैन स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रमुख वक्ता के रूप में 'भारतीय वाङ्मय की भाषा और साहित्य के विकास में प्राकृत भाषा का योगदान' विषय पर व्याख्यान दिया। इस व्याख्यानमाला का उद्घाटन बी०आर० अम्बेडकर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० विमल कुमार ने किया तथा अध्यक्षता प्रो० रवीन्द्र कुमार वर्मा 'रवि' हिन्दी विभाग ने किया। डॉ० कमलेश कुमार जैन, जयपुर आदि ने भी अपने विचार प्रकट किये। संस्थान के निदेशक डॉ० ऋषभचन्द्र जैन ने विषय-प्रवर्तन एवं धन्यवाद ज्ञापित किया।

४. दिनाङ्क २८ दिसम्बर, २०११ को मैत्री भवन में आयोजित स्व० आचार्य श्री शरद कुमार साधक जी की स्मृति में 'जल, जंगल, जमीन, जीविका और हमारा सामुदायिक जीवन' विषयक राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें संस्थान के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने विषय-प्रवर्तन किया।

विद्यापीठ-सदस्यों द्वारा विभिन्न सङ्गोष्ठियों में पत्र-वाचन, सहभागिता एवं व्याख्यान

१. डॉ० अशोक कुमार सिंह एवं श्री ओम प्रकाश सिंह

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् एवं प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं

११४ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित 'आर० शामशास्त्री : भारतीय इतिहास के नये आयाम' विषय पर ८-१० नवम्बर, २०११ को राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी का आयोजन हुआ। इस सङ्गोष्ठी में संस्थान के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ० अशोक कुमार सिंह ने 'आचार्य हेमचन्द्र विरचित लघु-अर्हन्नीति पर कौटिल्य का प्रभाव' तथा संस्थान के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री ओम प्रकाश सिंह ने 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र की जैन टीका : नीति निर्णीत' विषय पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया।

### २. डॉ० अशोक कुमार सिंह

दिनाङ्क १८-२० नवम्बर २०११, को राष्ट्रीय मानव शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा आयोजित त्रिदिवसीय राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी में संस्थान के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ० अशोक कुमार सिंह ने 'जैन परम्परा में अस्पृश्यता : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' विषय पर शोधपूर्ण पत्र प्रस्तुत किया।

### ३. डॉ० राहुल कुमार सिंह

चाणक्य इन्स्टिट्यूट ऑफ पब्लिक लीडरशिप तथा मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई के संयुक्त तत्त्वावधान में ९-१० दिसम्बर, २०११ को आयोजित द्विदिवसीय प्रशिक्षण कार्यशाला में संस्थान के रिसर्च एसोसिएट डॉ० राहुल कुमार सिंह ने व्याख्यान एवं प्रशिक्षण दिया।

### ४. डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव एवं डॉ० राहुल कुमार सिंह

दिनाङ्क १९-२० नवम्बर, २०११ को नई दिल्ली के श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राङ्गण में आई०एस०जे०एस० तथा दर्शन सङ्घाय, लाल बहादुर संस्कृत विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में '**Jain Logic and Parikṣāmukha Sūtram**' विषय पर द्विदिवसीय कार्यशाला का आयोजन हुआ। संस्थान के रिसर्च एसोसिएट डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव तथा डॉ० राहुल कुमार सिंह ने अपनी सहभागिता प्रस्तुत की। इसके अतिरिक्त इस कार्यशाला में प्रो० पारसमल अग्रवाल, डॉ० नारायण लाल कछारा एवं लाल बहादुर संस्कृत विद्यापीठ के अन्य अध्यापकों ने अपनी सहभागिता प्रस्तुत की। डॉ० शुगन चन्द जैन, अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं अध्यक्ष, आई०एस०जे०एस० ने जैनधर्म का परिचय एवं इसकी समसामयिक उपयोगिता पर प्रकाश डाला तथा उन्हीं के सौजन्य से यह कार्यशाला सम्पन्न हुई।

२. दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा विश्व दर्शन दिवस पर 'भारतीय संस्कृति में मूल्य और वर्तमान समाज में उसकी प्रासङ्गिकता'

विषय पर एकदिवसीय राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी का आयोजन ३० नवम्बर २०११ को हुआ। विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० ए० के० चटर्जी, प्रो० कमलाकर मिश्र तथा प्रो० ए० एन० त्रिपाठी इस सङ्गोष्ठी में मुख्य वक्ता थे। संस्थान के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन, एसोसिएट प्रोफेसर डॉ० अशोक कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव एवं डॉ० राहुल कुमार सिंह इस सङ्गोष्ठी में भाग लिये।

### विशिष्ट व्यक्तियों का आगमन

१. डॉ० सुमति कर्णावत : अखिल भारतीय श्रावक समिति के अध्यक्ष तथा श्रमणसंघीय पू० आचार्य डॉ० शिवमुनि जी के प्रति पूर्ण समर्पित श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज के अग्रणी डॉ० सुमति कर्णावत एवं संस्थान के पूर्व अध्यक्ष श्री नृपराज जैन का अक्टूबर के द्वितीय सप्ताह में विद्यापीठ में आगमन हुआ। डॉ० कर्णावत ने विद्यापीठ की गतिविधियों का अवलोकन किया तथा निदेशक के साथ विचार-विमर्श करके पार्श्वनाथ विद्यापीठ के विकास में पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया।

२. प्रो० एस० आर० भट्ट : दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के दर्शन विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० एस० आर० भट्ट अपने एकदिवसीय दौरै पर दिनाङ्क २९ नवम्बर, २०११ को पार्श्वनाथ विद्यापीठ पधारे। संस्थान के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने उनका स्वागत कर संस्थान की गतिविधियों से उन्हें अवगत कराया। प्रो० भट्ट ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ की अकादमिक गतिविधियों में हर सम्भव मदद का आश्वासन दिया।

३. श्री डी० आर० मेहता : प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के संस्थापक एवं अध्यक्ष पद्मभूषण डॉ० डी० आर० मेहता का ७ दिसम्बर, २०११ को विद्यापीठ में आगमन हुआ। यहाँ उन्होंने संस्था के अकादमिक सदस्यों के साथ एक बैठक की। डॉ० मेहता ने प्राकृत भारती अकादमी और पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा संयुक्त रूप से पुस्तकों के प्रकाशन के प्रस्ताव को स्वीकार किया तथा दोनों संस्थाओं के परस्पर सहयोग पर बल दिया। संस्थान के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने उनका स्वागत कर संस्थान की गतिविधियों से उन्हें परिचित कराया।

### पार्श्वनाथ जयन्ती एवं मालवीय जयन्ती समारोह सम्पन्न

दिनाङ्क १८ दिसम्बर, २०११ को महामना मालवीय मिशन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के संयुक्त तत्वावधान में महामना पंडित मदन मोहन मालवीय की १५१वीं जयन्ती तथा भगवान् पार्श्वनाथ जन्म जयन्ती महोत्सव विद्यापीठ के सभागार में मनायी गई। इस अवसर पर प्रो० रामहर्ष सिंह, पूर्व कुलपति राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जयपुर ने अध्यक्षता की और उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ और महामना जी के व्यक्तित्व को अनुकरणीय बताया। संस्थान के

११६ : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ का परिचय दिया तथा भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन पर प्रकाश डालते हुए मालवीय जी को श्रद्धा-सुमन अर्पित किये। मुख्य अतिथि श्री पन्नालाल जायसवाल, नई दिल्ली, इतिहासकार प्रो० जे०पी० मिश्र, प्रो० दीनबन्धु पाण्डेय, प्रो० जे०पी० लाल, डॉ० उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी आदि विद्वानों ने दोनों महाविभूतियों का गुणगान करते हुए श्रद्धा सुमन अर्पित किये।

**डॉ० फिलिप क्लेटोन का आगामी ३ जनवरी, २०१२ को आगमन**

आगामी ३ जनवरी, २०१२ को अमेरिका के क्लेरामॉण्ट लिंकन यूनिवर्सिटी के प्रोवोस्ट (अध्यक्ष) एवं क्लेरामॉण्ट स्कूल ऑफ थिऑलॉजी के डीन डॉ० फिलिप क्लेटोन का आगमन हो रहा है। डॉ० क्लेटोन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सभागार में 'Applied Jainism : Why and How' विषय पर अपना एक व्याख्यान देंगे। इस अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित तीन पुस्तकों- प्राकृत-हिन्दी कोश, जैनकुमारसम्भव एवं कर्मग्रन्थ-५ का विमोचन होगा।

## ISJS News

**1-** ISJS center at Virginia Commonwealth University (VCU) is being inaugurated on November 13, 2011. Earlier Dr. Shugan C. Jain had gone to VCU to deliver two lectures to more than two hundred students in September 2011 and a professor (Dr. Daniel Smith) and three students of VCU attended ISSJS 2011. This is the second ISJS centre for Jain studies being opened in US universities this year. Earlier the first ISJS centre was opened at Claremont Lincoln University, California on Sept. 6, 2011.

**2-** Dr. Shugan C. Jain, President PV and Chairman ISJS went to Switzerland where he delivered a lecture of one and half hours to 125 school children of class VI at Ecole International Geneva on Jainism. The session was highly interactive and children were very interested to know the principles of Karma, Anekānta and Ahimsā of Jainism. Meetings and discussions also took place with faculty at Universities of Lausanne, Switzerland and Munich in Germany for likely association with ISJS and participations in ISSJS 2012 programme.

**3-** ISJS is organising a Jain Leadership Summit in association with JAINA of USA on January 14 and 15, 2012. This is a continuation of eleven international ISJS seminars on Social Consciousness in Jainism organised by ISJS in 2010.

**4-** Admission of various program of ISJS in 2012 are in full swing. We expect good response from various universities in USA, Canada, Europe and Thailand.

**5-** Workshop on Jain Logic (Special reading of Parikṣāmukha by Ac. Māṅikyanandī) . for ISSJS faculty members had been organised from November 19-20, 2011 at Shri Lal Bahadur Shastri Sanskrit Vidyapeeth (Deemed University), New Delhi. More than 16 faculty members from all over India attended that workshop.

\*\*\*

## जैन जगत्

### १. वैशाली में डॉ० गुलाबचन्द चौधरी स्मारक व्याख्यानमाला सम्पन्न

मानव संसाधन विकास विभाग, बिहार सरकार द्वारा संचालित प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली के सभागार में दिनाङ्क २३ अक्टूबर २०११ को गुलाबचन्द चौधरी स्मारक व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया। इस व्याख्यानमाला का उद्घाटन वैशाली के सांसद एवं पूर्व केन्द्रीय मंत्री डॉ० रघुवंश प्रसाद सिंह ने किया। व्याख्यानमाला की अध्यक्षता राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने की तथा मुख्य वक्ता के रूप में विदुषी डॉ० मिथिलेश कुमार मिश्रा ने अपने विचार प्रस्तुत किये।

### २. प्रो० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' बी० एल० इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली के निदेशक बने

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व प्रोफेसर एवं जैनदर्शन विभागाध्यक्ष एवं प्राच्य विद्याओं के वरिष्ठ विद्वान् प्रो० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' दिल्ली स्थित भारतीय प्राच्य-विद्याओं के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त संस्थान भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी (बी०एल०आई०आई०) के निदेशक के रूप में नवम्बर २०११ से पदभार सम्हाल रहे हैं। ज्ञात हो कि प्रो० प्रेमी पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के शोध-छात्र रह चुके हैं। इनका शोध-विषय था 'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन'। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की तरफ से हार्दिक शुभकामना।

### ३. 'अध्यात्म, समाज और भ्रष्टाचार' विषय पर राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी सम्पन्न

जोधपुर में ५-६ नवम्बर २०११ को 'अध्यात्म, समाज और भ्रष्टाचार' विषय पर द्विदिवसीय राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी का आयोजन परमश्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म०सा० के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ।

### ४. जम्बूद्वीप के पीठाधीश पूज्य क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज का समाधिमरण

जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर के पीठाधीश धर्मदिवाकर पूज्य क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी महाराज का सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा, १० नवम्बर २०११ को हुआ। पूज्य महाराज श्री के समाधिमरण को हर किसी ने अपूरणीय क्षति बताकर अपनी संवेदनाएँ व्यक्त कीं।

## ५. लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में इलेक्ट्रानिक लाइब्रेरी का उद्घाटन

भारत के पूर्व राष्ट्रपति भारतरत्न डॉ० ए०पी०जे० अब्दुल कलाम ने अहमदाबाद में ११ नवम्बर २०११ को भारतीय संस्कृति के अध्ययन, संशोधन, प्राचीन हस्तलिखित दुर्लभ ग्रन्थों के संरक्षण के क्षेत्र में अग्रणी संस्था लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में इलेक्ट्रानिक लाइब्रेरी परियोजना का उद्घाटन किया। इस अवसर पर डॉ० कलाम ने पारसी विद्वान् डॉ० होनीवाला की पुस्तक 'Many Faces of Peace' के डॉ० श्री देवीबेन मेहता एवं प्रो० प्रशान्त दवे कृत गुजराती अनुवाद 'शान्तिना स्वरूपो' का विमोचन भी किया जिसे डॉ० जे०बी० शाह ने सम्पादित किया है।

## ६. प्रो० भागचन्द जैन 'भास्कर' 'जैन रत्न' से सम्मानित

अमेरिका में प्रो० भागचन्द जैन भास्कर को जैनधर्म, इतिहास, दर्शन, संस्कृति और पुरातत्त्व के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए 'जैन रत्न' उपाधि से सम्मानित किया गया है। साहित्यिक क्षेत्र में ऐसे योगदान के लिए यह उनका बीसवाँ पुरस्कार है। प्रो० भास्कर की ७५ से भी ज्यादा पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। ज्ञात हो कि प्रो० भास्कर पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के निदेशक (१९९९-२००१) भी रह चुके हैं। इस सम्मान के लिए उन्हें पार्श्वनाथ विद्यापीठ की तरफ से हार्दिक बधाई।

## ७. 'भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान' विषय पर राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी का आयोजन

दिनाङ्क ३०-३१ दिसम्बर, २०११ एवं १ जनवरी, २०१२ को प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म०प्र०) एवं भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के सहयोग से 'भारतीय दर्शन को जैन दार्शनिकों का अवदान' विषय पर त्रिदिवसीय राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी का आयोजन किया गया है।

## ८. जलगाँव में भव्य जैन भगवती दीक्षा समारोह

आगामी १९ जनवरी, २०१२ को श्री ज्ञानचन्द्र जी म०सा० की पावन निश्रा में तरुण तपस्वी सेवा भावी श्री धर्मेन्द्र मुनिजी म०सा० आदि संतरत्न, वरिष्ठतम महासाध्वी रत्ना श्री ललिता जी० म०सा० आदि साध्वी रत्नाओं की उपस्थिति में चतुर्विध संघ के समक्ष नवरत्न श्री सुदर्शन जी मेहता, उनकी धर्म सहायिका महिलारत्न श्रीमती शुचिताजी मेहता और उनके सुपुत्र बालकरत्न श्री अनेकान्तजी

१२० : श्रमण, वर्ष ६२, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०११

मेहता- एक साथ पूरा परिवार सागर पार्क ग्राउंड, आकाशवाणी चौक, जलगाँव दीक्षास्थल पर दीक्षा अंगीकार करने जा रहे हैं।

### ९. प्राकृत हस्तलिखित ग्रन्थों पर सङ्गोष्ठी का आयोजन

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में दिनाङ्क १६ से १७ फरवरी, २०१२ तक राष्ट्रीय स्तर पर प्राकृत हस्तलिखित ग्रन्थों पर प्रथम सङ्गोष्ठी का आयोजन राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली के सहयोग से किया जा रहा है। इस विशिष्ट सङ्गोष्ठी में लुप्तप्राय एवं अल्पज्ञात प्राकृत भाषा में निबद्ध हस्तलिखित अप्रकाशित कृतियों पर प्रकाश डाला जाएगा।

\*\*\*

प०पू० प्रशमरति विजयजी म०सा० के द्वारा दिव्यदर्शन ट्रस्ट, ३९, कलिकुंड सोसायटी, कलिकुंड चार रास्ता, कलिकुंड-धोलका, जिला- अहमदाबाद (गुजरात) प्रकाशन से निम्न पुस्तकें साभार प्राप्त हुईं-

पुस्तक	लेखक/ सम्पादक	मूल्य
१. व्युत्पत्तिवाद (द्वितीय कारक- प्रथम खण्ड) गुजराती विवेचन	प०पू० श्रीभव्यसुन्दर विजयजी म०सा०	रु०५०
२. निक्षेपविंशिका (गुजराती)	आ० विजय अभयशेखरसूरि	रु०९०
३. नयविंशिका (गुजराती)	आ० विजय अभयशेखरसूरि	रु०२००
४. श्री पिण्डविशुद्धिः (गुर्जरभाषान्तर-गुणानन्दीय- वार्तिक विभूषिता)	सिद्धान्त दिवाकर आचार्यदेव श्रीमद्विजय जयघोषसूरिश्चर	रु०२५०
५. श्री पिण्डनिर्युक्ति ग्रन्थनो सानुवाद (गुजराती)	प्रवचनध्यक्ष पू० गणिवर्य श्री हंससागर म०सा०	रु०१६५

इनके अतिरिक्त संस्थान को निम्नलिखित पुस्तकें भी साभार प्राप्त हुईं-

१. द्वादशार नयचक्रम्, समुद्धारकर्ता- आचार्य विजयलब्धिसूरिश्चर, प्रका० स्वर्गरोहण अर्धशताब्दी समिति, अहमदाबाद

२. आचार्यबुन्दबुन्दबुन्दग्रन्थोपरि जयसेनप्रणीतवृत्तिग्रन्थानां-  
समीक्षात्मकमध्ययनम् (शोध प्रबन्ध), प्रस्तुतकर्ता- कु० सुजाता रोटे

३. प्राकृत-बोध, आचार्य सुनीलसागर, जैन संस्कृति शोध संस्थान, रामगंज,  
जिन्सी, इन्दौर

४. Ācārya Umāsvāmi's Tattvārthasūtra (With Hindi and English Translation), Edition- Vijay K. Jain, Pub.- Vikalp Printers, Publishing Section, Dehradun, Rs. 250/-

## Advertisement

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi (PV) invites scholars of Jain philosophy, religion, non-violence to join its ambitious expansion plans.

PV provides an excellent fully equipped campus adjacent to BHU and opportunities to teach and work with foreign scholars and students in India and abroad. PV is an approved external research organization of BHU.

PV is well known Jain education and research organization since 1937. PV is honoured to have leading scholars of Jainism with it since its inception. It has now planned for major expansion to conduct research and its application in Jain doctrine, ethics, languages, meditation, rituals, history, art and their application to resolve issues of society in 21<sup>st</sup> century.

PV has openings for the following academic staff:

Position	Qualification	Experience
Professor/Principal Research Fellow	Ph.D.	10+ Years
Associate Professors/Senior Research Fellows	Ph.D.	6+ Years
Assistant Professor/Research Fellows	Ph.D.	1+ Years
P.G. Research Fellows	Ph.D.	Fresh
Research Assistant	M.A./Ph.D.	1 Year for M.A.

**Other requirements:** The candidates should have demonstrable experience of conducting research and publishing and/or teaching in reputed universities or research institutes. Fluency in English and computer working is desirable along with command of Hindi/Prakrit or Sanskrit. Candidates who have superannuated/retired may also apply for suitable openings. Candidates for Research Associates without Ph.D. will have the option to work for Ph.D. also while serving at PV.

**Salary:** Competitive salary along with living accommodation at the campus will be provided.

**General:** All positions are for posting at the campus of PV in Varanasi and New Delhi desired by the President. Initially all the position shall be on contract basis for three years and likely to be made permanent on successful completion of the contract period. Openings, especially for foreign scholars also exist for shorter periods of 6 month to one year to work on specific projects earmarked by PV.

Please send your application by 31<sup>st</sup> Jan.2012.

The President PV

D-28, Panchsheel Enclave, New Delhi- 110017

or email to [isjs\\_pv@yahoo.com](mailto:isjs_pv@yahoo.com)

1. Prakrit - Hindi Kośa  
Edited by Dr. K.R. Chandra ₹ 1200.00
2. Encyclopaedia of Jaina Studies  
Vol. I (Art & Architecture) ₹ 4000.00, \$ 100.00
3. Jain Kumāra Sambhavam  
Dr. Neelam Rani Shrivastava ₹ 300.00
4. Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. VII, ₹ 1430.00
5. Hindī Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. III  
Dr. Shitikanth Mishra ₹ 1270.00
6. Jaina Pratimā Vijñāna  
Prof. M.N.P. Tiwari ₹ 300.00
7. Jaina Dharma Darśana  
Dr. Mohanlal Mehta ₹ 200.00
8. Sthānakavāsī Jaina Paramparā Kā Itihāsa  
Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar ₹ 500.00
9. Studies in Jaina Philosophy  
Dr. Nathmal Tatia ₹ 200.00
10. Theaory of Reality in Jaina Philosophy  
Dr. J. C. Sikdar ₹ 300.00
11. Doctrine of Karma in Jaina Philosophy  
H.V. Glasenapp ₹ 150.00
12. Jainism: The Oldest Living Religion  
Dr. Jyoti Prasad Jain ₹ 40.00
13. Scientific Contents in Prakrit Canons  
Dr. N. L. Jain ₹ 400.00
14. Pearls of Jaina Wisdom  
Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P Pandey ₹ 120.00
15. Studies in Jaina Art  
Dr. U.P. Shah ₹ 300.00
16. Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I  
Editor : Dr. S. P. Pandey ₹ 500. \$ 40-00
17. Jainism in a Global Perspective  
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey ₹ 400.00, \$ 19.00
18. Multi-dimensional Application of Anekāntavāda  
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey ₹ 500.00, \$ 20.00
19. Advanced Glossary of Jaina Terms  
Dr. N. L. Jain ₹ 300.00
20. Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Parīśilana (Gujratī)  
Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi ₹ 300.00
21. Jains Today in the World  
Pierre Paul Amiel ₹ 500.00
22. Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion)  
Dr. N. L. Jain ₹ 300.00
23. Jaina Karmagrantha Part -I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi) ₹ 400.00